उ० प्र० हि० ग्र० अ० प्रकाशन 153

सौंदर्य का तात्पर्य

डॉ० रामकीर्ति शुक्ल
अंग्रेजी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1961-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस संबंध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मन्त्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालयस्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्व-विद्यालय की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रंथ निर्माण की योजना के अंतर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय-स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिंदी मे अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाशित ग्रंथों मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अंतर्गत वे पांडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रंथ योजना के अंतर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अंतर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इस पुस्तक का लेखन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के डॉ० रामकीर्ति शुक्ल ने किया है। इस बहुमूल्य सहयोग के लिए उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी आभारी है।

उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिंदी में मानक ग्रंथों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिंदी में परिवर्तित हो सकेगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष,
शासी मंडल
उ० प्र० हिंदी ग्रंथ अकादमी

आमुख

"बहुत से समझदार आदमी सौंदर्य शास्त्र पर विचार करना त्याग देते हैं और कला की प्रकृति अथवा उद्देश्य के विषय में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते क्योंकि वे ऐसा महसूस करते है कि इस दिशा मे किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचने की संभावना लगभग नहीं ही होती है। कौन सी वस्तुयें सुन्दर हैं और कौन नहीं इस मसले पर अधिकारिक विद्वानों मे आजतक सहमति नहीं हो पाई है और जब कभी सहमति हो भी जाती है तो यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं होता कि वे किस बात पर सहमत हुए है।"

—आई० ए० रिचर्डस्, सी० के० आगडेन और जेम्सवुड **फाउन्डेशन्स आफ एस्थिटिक्स**, पृ० 15।

यह पुस्तक येरिक न्यूटन की प्रसिद्ध कृति **मीनिंग आफ ब्यूटी** का सार सक्षेप है जिसका प्रतिपाद्य विषय है 'सौंदर्य'। कला चिन्तन और दार्शनिक चिन्तन का यह अत्यधिक परिचित शब्द है और इस पर अनेक कोणों और दृष्टियों से विचार हुआ है। इसके बावजूद इस शब्द के अर्थ को लेकर आज तक कोई सहमति नहीं हो पाई है। दार्शनिकों की बात यदि छोड़ भी दी जाय और केवल कला अथवा साहित्य समीक्षा में प्रयुक्त इस शब्द के अर्थों को ही ध्यान में रखा जाय तो भी यह स्पष्ट है कि विभिन्न संदर्भों में इसके अलग-अलग अर्थ किये गये हैं और कभी-कभी तो एक ही संदर्भ में इसके अर्थों मे वैभिन्य आ गया है। सौंदर्य संबंधी व्यक्तिनिष्ठ अवधारणायें यदि अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है तो तथाकथित वस्तुनिष्ठ विवेचनों में अतिव्याप्ति का दोष विद्यमान है। यह एक आश्चर्य ही कहा जायेगा कि इतने व्यापक प्रयोग के बावजूद 'सौंदर्य' का कोई सर्वमान्य प्रतिमान आज तक नही बन पाया है। ऐसी स्थिति में सौंदर्य को लेकर विवाद होना स्वाभाविक ही है।

सौंदर्य पर विचार करते समय एक बुनियादी बात ध्यान में अवश्य ही रखी जानी चाहिये और वह यह कि यह दो प्रकार का होता है। पहला प्रकृति का सौंदर्य जिसके सृजन में मनुष्य का कोई योगदान नहीं होता और दूसरा मानव-रचित सौंदर्य। कला में सौंदर्य की चर्चा करते समय प्रायः यह तथ्य भुला दिया

जाता है। दोनों प्रकार के सौंदर्य का सृजन, उनके उद्देश्य, वृत्ति आदि में पर्याप्त अंतर होता है अतः एक को दूसरे के साथ गड्डमगड्ड करने से बचने का प्रयास अवश्य होना चाहिये। दोनों के बीच का अंतर प्रकार का ही न होकर प्रजाति-मूलक है।

कलागत सौंदर्य पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। पहली दृष्टि वह है जिसमें हम रचनाकार को केन्द्र में रखकर विचार करते हैं अर्थात् कलाकार की कल्पना में किस प्रकार कोई कृति आकार ग्रहण करती है और फिर किस प्रक्रिया से उसका बाह्यकरण होता है। दूसरी दृष्टि वह है जब हम दर्शक अथवा प्रेक्षक को केन्द्र मानकर चलते हैं अर्थात् कोई कलाकृति दर्शक के मन में किस प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है और उसके व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में वह किस प्रकार, कितनी मात्रा में परिवर्तन करती है। एक और समस्या से भी हमारा सामना होता है और वह यह कि क्या कलागत मूल्य जीवन के अन्य मूल्यों से भिन्न अथवा उनके जैसे ही होते हैं। इन समस्याओं पर विचार करने के पश्चात् ही कलाकृति को उसकी पूर्णता में समझा जा सकता है।

'सौंदर्य' वास्तव में एक दार्शनिक प्रत्यय है और सत्य एवं शिव के साथ यह दार्शनिक प्रत्ययत्रयी का निर्माण करता है। लेकिन दार्शनिक का सौंदर्य कला-समीक्षक के सौंदर्य से भिन्न होता है। दार्शनिक के लिये सौंदर्य एक अमूर्त, निरपेक्ष तत्व है जो व्याख्या अथवा विश्लेषण से परे होता है। लेकिन कला-समीक्षक का सौंदर्य कला-कृतियों से उद्भूत होने के कारण परिभाषित, व्याख्यायित एवं विश्लेषित किया जा सकता है। लेकिन दोनों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग किया जा सकता हो सो भी बात नहीं। इनमें एकमात्र अंतर यही होता है कि दार्शनिक एवं कला समीक्षक इन्हें भिन्न उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त करते हैं।

कला समीक्षा में सौंदर्य को एक प्रतिमान के रूप में प्रयोग किया जाता है। और जब भी हम किसी अवधारणा को प्रतिमान के रूप में प्रयोग करते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसे अधिकाधिक प्रामाणिक एवं सत्यापनीय बनाने का प्रयास करें अन्यथा उस प्रतिमान की वैधता समाप्त हो जाती है। सौंदर्यशास्त्रियों की असफलता सबसे बड़ा मुद्दा यही रहा है। या तो वे इसकी चर्चा करते समय दार्शनिक विवेचना के जंगल में भटक गये हैं या फिर उन्होंने इसे जीवन से काट कर एक स्वतंत्र, निरपेक्ष मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार सौंदर्य को नैतिक मानदण्डों अथवा चाक्षुष क्षुधाओं की संतुष्टि के साथ संक्रमित कर दिया गया है।

आज हम जिस युग में रह रहे हैं उसमें इस प्रकार के अस्पष्ट एवं सिद्धांत-हीन प्रतिमान मान्य नहीं हो सकते। विज्ञान ने हमारे चिंतन के सभी क्षेत्रों को क्रांतिकारी ढंग से बदला है और कला एवं साहित्य समीक्षा पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। 'प्रामाणिकता' और 'सत्यापनीयता' जैसे शब्द कल्पनाशील रचनाकार भी अपनी कृतियों के संदर्भ में अब प्रयोग करने लगे हैं। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो गया है कि पुराने प्रतिमानों को नये प्रकाश में फिर से परीक्षित एवं परिभाषित किया जाय। इससे एक ओर समीक्षा की नींव मजबूत होगी और इस क्षेत्र में कन्फ्यूजन कम होगा और दूसरी ओर मानवीय कल्पना जो साहित्य और कला की जननी होती है उसके प्रति एक नई आस्था पैदा होगी।

प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। यहां सौंदर्य की व्याख्या न तो अमूर्त प्रत्यय के रूप में की गई है और न इसे नैतिक अथवा आध्यात्मिक मूल्यों से संभ्रमित ही किया गया है। सौंदर्य संबंधी व्याख्या का आधार यहाँ पाश्चात्य जगत् की कुछ कालजयी कलाकृतियों को बनाया गया है और उनके माध्यम से एक विश्वसनीय और आसानी से समझ में आ सकने वाली व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इन कलाकृतियों के सृजन की पृष्ठ भूमि में समसामयिक प्रभाओं, कलाकार की संवेदनाओं और उनके प्रति दर्शक की प्रति-क्रियाओं को ध्यान में रखा गया है। पुस्तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना विशेषज्ञों के लिये नहीं की गई है अपितु सामान्य पाठक के लिये की गई है। विशेषज्ञों की संख्या सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक कम होती है और सामान्य व्यक्ति अनेक ऐसे पूर्वाग्रहों से मुक्त होता है जो विशेष-यज्ञ के निर्णयों को दूषित अथवा संदिग्ध बना देते हैं। इस दृष्टि से इस पुस्तक का बहुत अधिक महत्त्व है।

मूल पुस्तक का सार संक्षेप करने का सुझाव डॉ० शिवप्रसाद सिंह जी ने दिया था और इसे तीन अंशों में धारावाहिक रूप से उन्होंने अपने संपादकत्व में निकलने वाली उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी की साहित्य एवं कला समीक्षा पत्रिका वीक्षा 1, 2, और 3 में प्रकाशित भी किया। इसके लिये डॉ० साहब के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ। सार संक्षेप प्रस्तुत करने में मैंने इस बात का विशेष ध्यान रखा था कि कोई महत्त्वपूर्ण बात छूटने न पाये। पुस्तक के अंत में टिप्पणियाँ मैंने अपनी तरफ से जोड़ी हैं जिनमें मूल पुस्तक में चर्चित कुछ महत्त्वपूर्ण कलाकारों के विषय में संक्षिप्त जानकारी दे दी गई है। चूंकि पुस्तक का संदर्भ पाश्चात्य कला है अतः हिन्दी पाठक की सुविधा के लिये ऐसा परिचय देना मैंने आवश्यक समझा।

पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं उनके शीर्षकों को मैंने कई स्थानों पर अंग्रेजी में ही रहने दिया है, इसका कारण यह था कि हिंदी में उन्हें अनूदित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। पुस्तक में बीच-बीच में चित्र-संख्या दे दी गई है, कलाकार अथवा कलाकृति का नामोल्लेख न होने पर भी संख्या से संदर्भ मालूम हो जायेगा।

रामकीर्ति शुक्ल

विषयक्रम :

●

●

सौंदर्य का तात्पर्य

येरिक-न्यूटन का जन्म 1893 में मैन्चेस्टर में हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918) में सक्रिय कार्य करने के पश्चात् येरिक न्यूटन की इच्छा कलाकार बनने की थी और इस दिशा में उन्होंने प्रयास भी किया लेकिन शीघ्र ही उन्हें अपनी प्रतिभा की सही दिशा का ज्ञान हो गया और वे विधिवत् कलासमीक्षक बन गये। इस समय वे इंगलैण्ड के प्रख्यात कला समीक्षकों में गिने जाते हैं।

मैनचेस्टर गार्जियन और सण्डे टाइम्स जैसे पत्रों में कला समीक्षक के रूप में कार्य करने के पश्चात् अब वे गार्जियन के साथ सम्बद्ध हैं और साथ ही कामनवेल्थ इन्स्टीट्यूट में कला-सलाहकार के पद पर भी कार्य कर रहे हैं। कला समीक्षा संबंधी उनकी कुछ प्रमुख कृतियां हैं योरोपियन पेन्टिंग एण्ड स्कल्पचर (1941), टिन्टरेटी (1952), रोमाण्टिक रिबेलियन (1962) आदि। द मीनिंग आफ ब्यूटी 1959 में प्रकाशित हुई थी। इस ग्रंथ का प्रमुख विषय है सौंदर्य जिस पर अनेक कोणों से विचार किया गया है। कला एवं साहित्य चिंतन में सौंदर्य एक अत्यन्त ही विवादास्पद प्रत्यय है। येरिक न्यूटन ने अपनी व्याख्या को अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक एवं सत्यापनीय आधारों पर केन्द्रित किया है। यह सारी व्याख्या योरोपीय कला की कुछ सर्वमान्य कृतियों को केन्द्र में रख कर चली है और परिणामत: अमूर्त चिंतन के खतरे से बच गई है।

'द मीनिंग आफ ब्यूटी' का सार संक्षेप पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रहा है।

सौंदर्य शब्द का प्रयोग जितना ही सामान्य एवं व्यापक है इसका अर्थ उतना ही रहस्यपूर्ण और विवादास्पद है। आज-कल कलाकार सौंदर्य-सर्जक के रूप में प्रसिद्ध होना नहीं चाहते। सौंदर्य कोई सापेक्ष्य तत्त्व है अथवा कोई निरपेक्ष मूल्य, इस संबंध में भी काफी विवाद है। सौंदर्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता, परिमाण अथवा गुण के आधार पर इसको विश्लेषित नहीं किया जा सकता, अत: इसके फल स्वरूप इसे विज्ञान का आधार भी नहीं बनाया जा सकता।

सौंदर्य शास्त्रियों और दार्शनिकों ने इसकी अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है। क्रोचे ने सौंदर्य के स्थान पर 'अभिव्यंजना' अथवा 'अन्त: प्रज्ञा की अभिव्यंजना' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। फ्रायडवादियों ने इसे 'इच्छा पूर्ति' अथवा 'उदात्तीकरण' कहा है। हाडर ने इसे अर्थ देने के लिए 'परानुभूति' का सहारा

लिया है। लेकिन इन सारी व्याख्याओं में एक बात समान है और वह यह कि प्रायः सभी चिंतक अपने व्यक्तित्व से बाहर किसी मूल्य का उल्लेख न कर अपनी अनुभूतियों को नाम देने का प्रयास कर रहे हैं। वे उन अनुभूतियों का उल्लेख तो करते हैं जिन्हें कोई कलाकृति उनके मन में जाग्रत करती है लेकिन उनके पीछे छिपे कारणों को नजरअंदाज कर जाते हैं। सत्य यह है कि पदार्थजगत की हमारी धारणा हमारे अपने स्वभाव, आग्रहों, दुराग्रहों से मिली-जुली होती है। यथार्थ और यथार्थ के हमारे बोध के बीच एक बहुत बड़ी खाई सदैव विद्यमान रहती है। इस सीमित यथार्थ को ही व्यक्त करने में हमारी भाषा चूक जाती है; पूर्ण यथार्थ को न तो हम अनुभूत ही कर सकते हैं और यदि उसे अनुभूत कर भी ले तो उसे व्यक्त करने का कोई समर्थ साधन हमारे पास नहीं है।

कुछ चिंतकों ने सुरुचि को सौंदर्य के मूल्यांकन में महत्वपूर्ण माना है। लेकिन 'सुरुचि' कुछ तथाकथित 'शिक्षित' लोगों का विशेषाधिकार होती है। यह हमें सौन्दर्य दर्शन की दिशा में बहुत आगे नहीं ले जा पाती है। रुचि-परिष्कार की क्रिया अनवरत चलती रहती है, यह युग सापेक्ष्य होती है और इस प्रकार इसको मापदण्ड मानकर सौंदर्य की व्याख्या करना सौंदर्य को रूढ़ि में रूपान्तरित करना होगा। कुछ शब्द कुछ वस्तुओं के अपरिवर्तनीय संकेत के रूप में निश्चित कर दिए गए हैं। 'गुलाब' अथवा 'शुष्कता' जैसे शब्द सबको एक जैसा ही अर्थ प्रदान करते हैं।

लेकिन कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ बड़ा उलझा हुआ होता है और उन्हें लेकर तमाम विवाद खड़े हो जाते हैं। किसी वस्तु को देखकर हम उल्लसित हो उठते हैं और इस उल्लास का बखान बड़े जोश-खरोश के साथ करते हैं, और जब उसके कारण की अपेक्षा की जाती है तो हम उसे सौंदर्य कह देते हैं—अर्थात् वह गुण जो देखे जाने पर उल्लसित करता है। सौंदर्य का भाव प्रायः उत्तम पुरुष एकवचन से व्यक्त किया जाता है लेकिन जिस भाव को हम व्यक्त करते हैं वह किसी विशिष्ट वस्तु द्वारा उत्पन्न हमारी प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया अंततः उस वस्तु का एकमात्र गुण नहीं हो सकती। किसी के लिए गुलाब का फूल मात्र एक जड़ पदार्थ होता है, कवि के लिए यह उसके हृदय अथवा प्रेम का प्रतीक होता है।

सौंदर्य एक जीवंत विकास है। तर्कविद्या काट-छांट तो कर सकती है लेकिन ऐसी शल्य क्रिया में सौंदर्य तत्त्व का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। यह स्पष्ट है कि चाक्षुष सौंदर्य के विश्लेषण में दो तथ्यों को ध्यान में रखना पड़ेगा—संदर्भित वस्तु का गुण और उसके द्वारा जाग्रत मनोभाव। यह भी स्पष्ट है कि मनोभाव की विद्यमानता से ही उस गुण का उद्‌घाटन होता है। ऐसी स्थिति में यह भ्रम उत्पन्न

हो सकता है कि चूकि सौंदय की प्रतीति के लिय मनोभावों की अपेक्षा होती है अत मनोभावों के विश्लेषण से सौंदर्य का स्वयमेव विश्लेषण हो जायेगा। यह वैसे ही होगा जैसे दर्पण में बिम्बित वस्तु-जगत् की व्याख्या के लिये दर्पण की संरचना की व्याख्या की जाय।

यदि यह बात सही होती कि वस्तु-जगत् का अस्तित्व केवल इसलिये है क्योंकि वह दर्पण में प्रतिविम्बित होता है तो विज्ञान को अपनी तमाम बुनियादी धारणाओं में संशोधन करना आवश्यक हो जाता और इसी प्रकार सौंदर्यशास्त्री के लिये भी प्रेक्षक पर पड़ने वाले प्रभाव की सम्यक प्रक्रिया के विश्लेषण की आवश्यकता होती। कुछ सौंदर्यशास्त्री इस सीमा तक आकर रुक गये हैं। यह ठीक वैसे ही हुआ जैसे कारणों की खोज-बीन किये बिना ही किसी रोग के लक्षणो का उल्लेख कर दिया जाय।

सुख सौंदर्य का स्पष्ट गुण होता है। सौंदर्य एक वांछित वस्तु है। लेकिन सौदर्य काल, देश, और व्यक्ति तथा परंपरा से नियामित होता है। सौंदर्य कहाँ ह अथवा कहाँ नहीं है, विवाद का असली मुद्दा यह नही होना चाहिये, अपितु यह कि कौन व्यक्ति इसकी पहचान कर सकता है और कौन नहीं। मानवीय सवेदना भी काल सापेक्ष्य होती है। काल-चेतना किसी भी युग के रुचियों को प्रभावित करती है। वैज्ञानिक विधि---प्रमाणों का संग्रह और उनके आधार पर किसी सिद्धांत का प्रतिपादन---सौंदर्य के विश्लेषण में सहायक नहीं हो सकती। प्रश्नावली के आधार पर रुचि के स्तर को पहचानना खतरे से खाली नहीं होता, क्योंकि जिसे हम सुरुचि की संज्ञा देते हैं उसका संबंध शिक्षा आदि से भी होता है और फिर रुचि के मापन के लिये निकष के रूप में कलाकृतियों का प्रयोग किया जाता है।

यदि सुखानुभूति को हम सौंदर्य का अनिवार्य गुण मान कर सार्वकालिक एव सार्वदेशीय सुखानुभूति प्रदान करने वाली कलाओं को सौंदर्य का उद्गम मानें तो हमारा सारा अन्वेषण बहुत शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा। कुछ तथ्य ऐसे होते है जो सार्वकालिक अथवा सार्वदेशीय सुखानुभूति का बिल्कुल विलोम भी होते है जैसे, अस्वस्थता, खराब मौसम, कीड़े-मकोड़े, अपर्याप्त भोजन, गंदी नालियों की सड़ांध आदि। सुखानुभूति एक सकारात्मक अनुभूति है, मात्र दुःख की अनुपस्थिति सुख का कारण नहीं बन सकती।

रुचि और सुरुचि में अन्तर होता है---'रुचि' जिसका तात्पर्य होता है गुणो के एक अनुक्रम को उनके एक दूसरे अनुक्रम के समक्ष वरीयता देना और 'सुरुचि' जिसका संबंध इन मान्यता से होता है कि कुछ गुण दूसरों की अपेक्षा अधिक श्लाघ्य होते हैं। वरीयताओं का आधार प्रेम होता है और प्रेम स्वयं मूल्यों के ऐसे

अनुक्रम पर आधारित होता है जिसे चेतन अथवा अचेतन रूप में प्रेमी स्वीकारता है। सौंदर्य की समस्या की जड़ यहीं कहीं होती है। यदि वे मूल्य, मानवीय प्रत्यक्षबोध के वे प्रारंभिक स्फुरण, जो प्रेम को उत्पन्न करते है, अंत में अपने को अविश्लेष्य सिद्ध कर देते हैं तो सौंदर्य की समस्या के समाधान के प्रयत्न की असफलता निश्चित है। मेरा विश्वास है कि विश्लेषण संभव है और यह भी मेरा विश्वास है कि यह विश्लेपण 'रुचि' और 'सुरुचि' में अंतर के साथ प्रारंभ होना चाहिये। इस संपूर्ण व्याख्या में प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान होगा। ज्यों ही कर्ता स्वयं विवादगत वस्तु का परिणाम बन जाता है त्यों ही यह स्पष्ट हो जाता है कि परिणामों को मापने का एकमात्र आधार प्रेम करने की उसकी शक्ति है। प्रेम शब्द की परिव्याप्ति अत्यंत विशाल है और मानवीय आचरण के सहस्त्रों प्रभाव इसके अंतर्गत आ जाते हैं। मानवीय क्रिया के किसी अंश पर आप विचार कीजिये—वाटिका की गुड़ाई करना, चित्रण करने के लिये आवश्यक वस्तुओं की सूची तैयार करना, किसी साम्राज्य की स्थापना अथवा किसी नगर को ध्वंस करना—सब में कहीं-न-कहीं इस शब्द की सार्थकता स्पष्ट हो जायेगी।

माली गुड़ाई क्यों करता है ?

क्योंकि वह झाड़ियों की मेड़ बनाना चाहता है।

लेकिन ऐसा वह क्यों चाहता है ?

क्योंकि मौसम आने पर इसमें तरह-तरह के फूल खिलेंगे।

लेकिन वह फूल क्यों उगाना चाहता है।

इसलिये, क्योंकि वे सुन्दर होते हैं।

क्या अनजोती भूमि से ज्यादा सुन्दर होते है ?

निश्चित ही।

उन्हें क्या सुन्दर बनाता है ? किस नियम के अनुसार फूल की नीलिमा पृथ्वी के भूरेपन की अपेक्षा सुन्दर लगने लगती है ? किस नियम के आधार पर फूल का रूपविधान मिट्टी के एक लोंदे से ज्यादा सुन्दर हो जाता है ?

मालूम नहीं; बस यह अच्छा लगता है।

अच्छा ? गुड़ाई करने वाले आदमी को भूरे से नीला अधिक अच्छा लगता है, फूल का रूपविधान लोंदे के रूपविधान से अच्छा लगता है। क्यों ?

बस, उसे अच्छा लगता है। वह फूलों को पसंद करता है।

वह पसंद करता है। उसकी ओर देखो : कीचड़ से सने हुये जूते, पसीने की बूँदों से भरा हुआ उसका चेहरा, गंदे कपड़े, थकी हुयी मांस-पेशियाँ। यह सब कुछ इसलिये कि वह एक ऐसी चीज चाहता है जो आज से छः महीने बाद पैदा होगी ? निश्चित ही, पसंद करना एक कमजोर शब्द है ? निश्चय ही उसे फूलों

से प्यार है ? लेकिन इन अजन्मी चीजो को कोई क्यों प्यार करने लगता है जिसके लिये वह अपने शरीर पर इतना अत्याचार कर रहा है ? क्या उस प्यार के पीछे कोई कारण हैं ? क्या प्यारी वस्तुओं की कोई सूची बनाई जा सकती है जिसमें उनकी वांछनीयता के भी कारण दिये हुये हों ?

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि मैं प्रेमी के उत्साह की सर्जक के उत्साह से भ्रमवश तुलना कर रहा हूँ। यह सच है, लेकिन इससे मेरा तर्क कमजोर नहीं पड़ जाता है। माली सर्जन इसीलिये कर रहा है जिससे वह उसका आनंद उठा सके। वह फूलों को भूरी मिट्टी के समक्ष वरीयता देता है। इस संदर्भ में 'वरीयता' के स्थान पर प्रेम शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु के बारे में यह शंका कभी नहीं करता कि वह उसके प्रेम के योग्य नहीं हैं। उसका ध्यान उन गुणों या लक्षणों पर केन्द्रित रहता है जो उसकी प्रिय वस्तु द्वारा उसमें जाग्रत कर दिये गये हैं। वह अपनी प्रिय वस्तु की ओर से मुँह मोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सकता, वह उसका विस्तार से बखान करता है। दूसरों को ये बखान हास्यास्पद लग सकते है लेकिन उसने स्वयं को अपनी मन:स्थिति से स्थानांतरित कर उस मन:स्थिति को स्वीकार कर लिया है जो कि उस प्रिय वस्तु द्वारा सूचित की गई है। प्रसून-प्रेम और शरीरधारी प्रेम मे अनर है। फूलों के प्रेम में मनोभाव एक ही ओर प्रवाहित होते हैं जबकि दो शरीर धारियों के बीच प्रेम की स्थिति में इस प्रभाव की दुहरी दिशायें होती हैं। इस प्रकार फूलों के प्रेम को प्राप्त करने में कोई बाधा नही उत्पन्न होती। यदि कोई बाधा होती है तो वह है फूल की सुन्दरता के प्रति संवेदनशीलता को चरमस्थिति पर ले जाने की, उसके सौंदर्य के प्रति सदा-प्रज्ज्वलित क्षुधा को कायम रखने की।

सौंदर्य की विद्यमानता और उसके कारणों के वैज्ञानिक विवेचन के लिये वैज्ञानिक को प्रेमी के प्रलापों को ध्यानपूर्वक सुनना होगा, लेकिन इन प्रलापों का सम्यक् अर्थ ग्रहण करने के लिए उसे स्वयं प्रेमी बनना पड़ेगा। समस्या यह है कि प्रेमी अपने मनोभावों को तटस्थ होकर विश्लेषित नहीं कर पाता है। इस क्रिया मे सफल होने के लिए महसूस करना और सोचना—दोनों का होना अनिवार्य है। आसक्ति के पश्चात् अनासक्ति का आना और सही क्षण पर आना आवश्यक है। सौंदर्य को जातियों-प्रजातियों में वर्गीकृत करने के लिए आसक्ति और अनासक्ति के बीच सही क्षण की पहचान जरूरी है।

संत टामस ने कहा है कि सौंदर्य वह है जो देखे जाने पर सुखानुभूति कराये। यह सुखानिभूति प्रेक्षक को मिलती है। लेकिन किस प्रक्रिया से यह सुखानुभूति सभव हुई ? सुखानिभूति केवल देखने भर से नहीं होती, सुखानुभूति इच्छापूति से होती है। इच्छायें संयोग नहीं हैं, वे आदतों से नियामित होती हैं। मनुष्य की

इच्छायें उसके अनुभवों का परिणाम होती है। सौंदर्य की उसकी धारणा उसकी स्मृतियों एवं अनुभवों से निर्मित होती है। लेकिन यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वही वस्तुयें सुन्दर हैं जिनसे हम परिचित हैं, क्या इसके लिए कोई बुनियादी भूख नहीं होती ? क्या नवजाति शिशु को, होंठों से माता के स्तन के प्रथम स्पर्श में, आह्लाद नही होता ? शिशु की बात तो नही की जा सकती लेकिन प्रौढ़ों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें अनुभव और इच्छा एक दूसरे से संबद्ध होते हैं। प्रेम, स्वदेश प्रेम, आदतों के परिणाम हैं।

फिर भी यह मान लेने के पश्चात् भी कि सौंदर्य भूख से और भूख घनिष्ठता से नियामित होते हैं, सौंदर्य के विषय में बहुत कुछ कहने को रह जाता है। दृश्य-जगत वैविध्यपूर्ण होता है और प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। अनुपात, रूप और संयोजना के आधार पर सौंदर्य को नहीं मापा जा सकता। प्रकृति-सौंदर्य को उद्घाटित करने में आँखों की अपूर्व क्षमता कलासौदर्य के विषय में उतनी सक्षम नहीं रह जाती है। और भी, प्रकृति के सौंदर्य के सदर्भ में व्यक्ति की जो दृष्टि होती है, कला-सौदर्य के संबंध में वही नहीं रह जाती ह।

इन सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो सुन्दर होता है वह प्रेम्य भी होता है, उसमें मनोभावों का प्रवाह एक ही दिशा में होता है, और प्रेमी अपनी विश्लेषण-बुद्धि के प्रति सचेत भी होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सौंदर्य के जो प्रतिमान अस्तित्व में हैं वे व्यक्ति के निजी अनुभवों पर आधारित है। चाक्षुष-अनुभूति चाक्षुष-स्मृतियों का एक विशाल भण्डार तैयार करती है और फिर ये चाक्षुष-अनुभूतियां अपने समरूप ही चाक्षुष-क्षुधाओं को जन्म देती है। चाक्षुप-अनुभूतियां ठोस पदार्थों के रूप में होती हैं और ये चाक्षुष स्मृतियां भरे जाने के लिये प्रतीक्षारत खाली पात्रों की भांति होती है। भावी अनुभव उन्हें पूरित करते हैं। और केवल चाक्षुप अनुभव ही उन्हें संतोप-जनक रीति से पूरित कर पायेंगे। इस प्रकार सौंदर्य की प्रकृति के विश्लेषण के लिये आवश्यक है कि हमें चारों ओर से घेरे हुये और हमारी क्षुधाओं को रूपायित करने वाले तथ्यों का परीक्षण किया जाय और फिर यह निर्णय किया जाय कि कही ये तथ्य नियमन विधियों से शासित तो नहीं हो रहे हैं। अनंत अनुभवों से घिरा हुआ मानव मस्तिष्क उन्हें वर्गीकृत कर उनके उभयनिष्ठ तत्वों को पा जाना चाहता है और कोई भी वह अनुभव जो इस नियम का उल्लंघन करता हुआ-सा प्रतीत होता है चमत्कार की कोटि में रख दिया जाता है। प्रकृति की कोई विलक्षण क्रिया जब तक हमारे अनुभवों में समाहित नहीं हो जाती तब तक वह हमें चकित किया करती है।

मैं स्वीकार करता हूं कि सौंदर्य एक विधि-पालक व्यवहार है और सौंदर्य के

प्रति हमारी अनुक्रिया व्यवहार की पृष्ठभूमि में अस्तित्वमान विधि की स्वाभाविक स्वीकृति है। इस विधि को रूढ़िबद्ध करने की आवश्यकता नहीं, सिर्फ इसे स्वीकार किया जाना चाहिए और यह भी कि इसका विश्लेषण गणितीय शब्दावली मे किया जा सकता है। सौंदर्य का उद्गम ईश्वर की ज्योमिति के अध्ययन में पाया जा सकता है और इसके लिए ईश्वर का विश्लेशण भी तटस्थता के साथ किया जाना चाहिए। यह गणितीय आधार हमारी समस्या का अर्द्धांश भर है, शेषांश का संबंध प्रकृति के सौंदर्य से है। मानव प्रज्ञा सृष्टि की पूर्णता को समझ ही नही सकती लेकिन ऐसी स्थिति में सृष्टि निरर्थक नहीं हो जाती है। इस सृष्टि के जिस कोने पर भी प्रकाश पड़ा है वही प्रकाश उसकी अर्थवत्ता का आधार है। कलाकार और वैज्ञानिक दोनों इस कार्य में जुटे हुए हैं : वैज्ञानिक की उपलब्धि को **सत्य** कहा जाता है और कलाकार की उपलब्धि को **सौंदर्य**। जीवन शक्ति पर आधृत होता है। अपने अस्तित्व के लिए स्वाभाविक क्रियाशीलता आवश्यक होती है और इस क्रियाशीलता के प्रतिकूल वस्तुओं का विनाश निश्चित है। इस प्रकार प्रकृति के सौंदर्य के अध्ययन का तात्पर्य हुआ इसकी क्रियाशीलता का अध्ययन, लेकिन कलाजात सौंदर्य में ऐसी कोई समस्या नहीं होती। कलाकार सृष्टि के किसी अंश को चुनता है **प्रेम** से प्रेरित होकर। सृष्ट के किसी अंश का उपयोग वह अपने आनंद के लिए करता है। संक्षेप में, इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राकृतिक सौंदर्य प्रकृति के गणितीय व्यवहार का उत्पादन है, जो स्वयं क्रियाशीलता का उत्पादन है, जबकि कला-सौंदर्य प्रकृति के गणित के प्रति मानव-प्रेम की उपज है जो उसकी सहजबुद्धि पर आधृत है।

दृश्य-प्रपंच को हम दो कोटियों में रख सकते हैं—स्वाभाविक और कृत्रिम। यह भेद अभिप्राय पर आधारित है। प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक दृश्य-प्रपंच के अभिप्राय को सरलता से समीक्षित अथवा संदेहित नहीं किया जा सकता क्योंकि हम स्वयं इसके अंश हैं। वृक्ष अथवा बादलों को सृजित करने वाली शक्ति चर्च और मेज का सृजन करने वाली शक्ति से भिन्न है। किसी वस्तु की रचना करते समय मनुष्य के अभिप्राय भी बड़े ही गूढ और आश्चर्यजनक होते हैं और साथ ही उस वस्तु का प्रेक्षक पर पड़ने वाला प्रभाव भी बड़ा ही गूढ होता है। यहाँ हम इन्हीं दो समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करेंगे—कलाकार द्वारा किसी कृति का सृजन और अन्य व्यक्तियों द्वारा उस कृति की आनंदानुभूति।

प्रकृति को हम दृश्य-प्रपंच के पुंज की संज्ञा दे सकते हैं। और दृश्य-प्रपंच को जन्म देने वाली शक्ति को हम प्रकृति कहेंगे जिसको हम किसी भी यांत्रिक परीक्षण में रख सकते हैं। लेकिन यह कार्य वैज्ञानिक का है। तथ्यों की वैज्ञानिक द्वारा खोज सौंदर्यशास्त्रियों द्वारा मूल्यों की खोज की पूर्वगामी होती है। यह

प्रक्रिया सृष्टि के प्रारंभ से अनवरत रूप से चली आ रही है। यद्यपि वैज्ञानिक की खोज पूर्ण और असंदिग्ध नही होती फिर भी वह काफी कुछ प्रकाशित करने मे सफल हो जाता है। उसने सृष्टि की यंत्रावली तो खोज लिया है लेकिन इसे परिचालित करने वाली शक्ति का वह पता नहीं लगा पाया है। जीवन और मृत्यु के रहस्य को वह अभी तक नहीं सुलझा पाया है। वैज्ञानिक की इस सीमा से सौंदर्यशास्त्री का कार्य भी अधूरा रह जाता है। लेकिन, फिर भी, वैज्ञानिक द्वारा अर्द्ध-आलोकित पथ सौंदर्यशास्त्री के लिए सहायक हो सकता है। जान रस्किन ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसने दृश्य-जगत को परिचालित करने वाले नियमों को खोजने का प्रयास किया। उसका विचार यह था कि चूंकि सृष्टि का अनुभव ही कलाकार का कच्चामाल होता है अतः कला का विश्लेषण करने के पहले इस सृष्टि का विश्लेषण उपयोगी हो सकता है।

इसी प्रणाली से ही हम अपनी दो मुख्य समस्याओं का समाधान कर पायेंगे, अर्थात्, किस प्रकार प्रकृति का अनुभव मनुष्य के सौंदर्य-बोध को प्रतिबंधित करता है, और फिर उसके अनुभव की सीमाओं के भीतर कैसे प्राकृतिक उपकरण कम अथवा अधिक सुंदर प्रतीत होते है।

एक वंजुफल धरती पर गिरता है और फिर घटनाओं की एक श्रृंखला का प्रारंभ हो जाता है। अनेकों गूढ नियम परिचालित हो जाते हैं। इन सभी शक्तियों का मिश्रित परिणाम होता एक वंजुवृक्ष, एक ऐसा वंजुवृक्ष जो अन्य वंजुवृक्षो से भिन्न होता है और यह भिन्नता मात्र संयोग न होकर कारण-कार्यों के एक विशाल अनुक्रम का परिणाम होती है। जो नियम वंजुफल पर लागू होता है वही अन्य वस्तुओं पर भी लागू होता है।

नियमबद्ध होने का तात्पर्य होता है एकरूपता। प्रकृति के किसी एक नियम को लीजिये, अन्य नियमों को निरस्त कर दीजिये और परिणाम होगा एक पैटर्न। कल्पना कीजिये कि वंजुफल एक नियम से आबद्ध होने के पश्चात् कुछ भी नही करता। वह नियम ऐसा है जो इसे अंकुरित होने, फैलने और बढ़ने के लिए बाध्य करता हैं। इसका परिणाम होगा एक ऐसा संसार जिसमे सभी वंजुवृक्ष एक ही पैटर्न पर संरचित होते हैं, एक ऐसा संसार जिसमें आश्चर्य के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन उसमें एक और नियम, उदाहरणार्थ गुरुत्वाकर्षण का नियम, जोड़ दीजिए। प्रत्येक बिंदु पर विकास और गुरुत्वाकर्षण में संघर्ष होता दीख पड़ेगा और इस संघर्ष से एक नया परिणाम पैदा होगा। और फिर एक स्थिति ऐसी आती है जब हमारी कल्पना का मूल वंजुवृक्ष पहचान में ही नही आयेगा। फिर भी इसमें आये हुये सभी परिवर्तन प्रकृति के किसी-न-किसी नियम से परिचालित हुये हैं।

यह निश्चित है कि मस्तिष्क की यदि कोई क्षुधा होती है तो वह समझने और अंत में सहसम्बद्ध करने की क्षुधा होती है। संसार में सबसे कष्टकारक स्थिति तब पैदा होती है जब व्यक्ति, विचारों और अनुभूतियों से घिरे रहने पर भी, उनकी संगति नहीं बैठा पाता है। संगति बैठाने में असफल होने पर जीवन असह्य होने लगता है। चारों ओर से आती हुई अनुभूतियों के झोकों को नियम-बद्ध कर लेने और इस प्रकार उनके व्यवहार को संहिताबद्ध कर लेने से सुख की अनुभूति होती है। नियमों की क्रिया-प्रक्रिया को दृश्य-प्रपंच में पहचान लेना आवश्यक होता है। मानव मस्तिष्क नियमबद्ध व्यवहारों को सामान्य कहता है और इस एकरूपता अथवा सामान्यता के अभाव में वह इसकी इच्छा व्यक्त करता रहता है। वह दृश्य-प्रपंच को एक बोधगम्य रस्सी में बाँध देता है, सृष्टि को आधार और स्वर प्रदान करता है।

यही कारण है कि 19वीं सदी में विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा सृष्टि के व्यवहार को जाँचने-परखने और उनमें एकरूपता की तलाश करने की क्रिया प्रारंभ हुई। वैज्ञानिक इस विस्तृत सृष्टि के अदृश्य नियमों की जासूसी करता है और यहीं वह धर्माचार्यो से टकराता है क्योंकि धर्माचार्य इस सृष्टि को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेते हैं। सौंदर्य के विश्लेषण के लिये वैज्ञानिक और धार्मिक विधियों में सहमति बैठाना आवश्यक है।

यद्यपि सिद्धांत रूप में हम दृश्य प्रपंच के ऊपरी पहलू—रूप, आकार, रंग और संरचना—का विश्लेषण तो कर सकते हैं लेकिन व्यावहारिक स्थिति उतनी आसान नहीं है। एक बार यह निश्चित हो जाने पर (और प्लेटो ने ऐसा ही किया था) कि सौंदर्य को गणित में न्यूनीकृत किया जा सकता है और कि सौंदर्य का मूल्यांकन अंततः सृष्टि के गणितीय व्यवहार की हमारी पहचान पर निर्भर होता है, केवल इतना और करना शेष बचेगा कि हम जटिल, तालबद्ध व्यवहार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करें और रूप, आकार, रंग, और संरचना में इससे घटित होने वाले असंख्य प्रकार के सम्बन्धों को सूचीबद्ध कर लें। ऐसे संबंधों का आनंद और पहचान केवल सहज बुद्धि (intuition) द्वारा ही संभव होता है। सामान्य आदमी को भी अपने सहजज्ञान पर ही आश्रित होना चाहिए। एक कलाकार कलाकार इसीलिए कहलाता है क्योंकि उसकी सहजबुद्धि प्रेम की सीमा तक उत्क-र्षित हो जाती है। और सौंदर्य शब्द को उसने इसीलिये गढ़ा है ताकि परिमाण का स्थान प्रेम ले सके।

प्रकृति में कुछ ही ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनके गणितीय आधार को हम देख-कर समझ सकें। एक है नाटीलस शैल (nautilus shell) की लघुगणिकीय

कुण्डली, जिसका गणितीय सिद्धान्त नाटीलस के विकास पर निर्भर होता है। दूसरा है साबुन का बुलबुला जिसका आधार है कम से कम क्षेत्र में अधिकाधिक वाल्यूम भरना। यह सिद्धांत कुछ सीमा तक सफल हो सकता है; जैसे-जैसे बुलबुलों की संख्या बढ़ती जाती है गणितज्ञ की हालत खराब होने लगती है। कोई गृहिणी जब साबुन के पानी में अपने पति के वस्त्र भिगोती है तो उसमें उठने वाले असंख्य बुलबुले उसी गणितीय नियम के कारण होते हैं लेकिन उनकी सही जाँच करने के लिए कटिबद्ध गणितज्ञ बेमौत ही मर जायेगा। इसी प्रकार प्रकृति के कुछ पहलू और भी हैं जिनके पीछे कोई नियामक नियम परिचालित होता है। प्रकृति का एक ढाँचा है और प्रत्येक फूल, दूब का प्रत्येक कण इसमें कुछ स्थान घेरे हुए हैं, जिसे आखें देख तो सकती है लेकिन जिसका विश्लेषण मस्तिष्क नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक अथवा गणितज्ञ कुछ महत्वपूर्ण संकेत देने के अलावा अधिक कुछ भी नहीं कर सकते। वे आपके लिये जंगल का दरवाजा खोल देंगे, एक बार इस जंगल में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् आपकी सहजबुद्धि ही आपका साथ देगी। जहाँ परिमाण-बोध हमारा साथ छोड़ देता है उसी बिंदु से सहजबुद्धि हमारा साथ देना प्रारंभ करती है। सहजबुद्धि एक टूटती हुई लहर के आकार और गति में आने वाले लयात्मक परिवर्तनों के समयबद्ध अनुक्रम का अनुगमन करती है: वातावरण के घनत्व के कारण परिदृश्य के अग्रभाग और दूरस्थ भाग की कम होती हुई गहनता को यह समझ सकती है और ऐसा करने में अपने बोध को सांख्यिकी में न्यूनीकृत किये बिना भी यह जान सकती है कि इसका संपर्क एक गणितीय संसार से है।

लेकिन सहजबुद्धि ज्ञान के अतिरिक्त किसी और चीज की तलाश में रहती है। और तथ्य को जानने और उसका आनंद उठाने के अनुपात में ही यह उसमे मूल्य जोड़ देती है। कोई व्यक्ति ज्यों ही विभिन्न वस्तुओं और अपनी रुचि की परीक्षा करता है उसे 'सौंदर्य' शब्द की आवश्यकता पड़ जाती है। सौंदर्य और गणित के पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखकर वह अधिक सुरक्षित स्थिति मे रहेगा। रस्किन ने दृश्य वस्तुओं में सादृश्य स्थापित कर सौंदर्य की परिभाषा देने का प्रयास किया था। यदि हम कहें कि गुलाब का फूल सुन्दर है क्योंकि वह एक प्याली के आकार का है तो तुरन्त ही प्रश्न उठेगा कि प्याली क्यों सुन्दर है। इस 'क्यों' का सही कारण खोजने के लिए हमें सादृश्यमूलक वस्तुओं का नाम गिनाना पड़ेगा जिनका सौंदर्य सर्वमान्य हो चुका है और फिर उनके गणितीय मूल का विश्लेषण करना पड़ेगा जो हमें सौंदर्य विश्लेषण की दिशा मे बहुत आगे नहीं ले जायेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सौंदर्य दृश्य–प्रपंच के मूल में स्थित वह

गणितीय व्यवहार है जिसे सहजबुद्धि में ग्रहण कर लिया गया है अंतरक्रियाशील नियमों की संख्या और परिणामत: गणितीय गूढ़ता के साथ इसमें वस्तुपरक अंतर पड़ता जाता है और आत्मपरक रूप से प्रेक्षक की सहजबुद्धि के साथ यह परिवर्तित होता जाता है। अत: रस्किन की धारणा की शब्दावली बदलनी पड़ेगी। यदि गुलाब का कप–आकार सौंदर्य का मूल है तो इस आकार से रहित फूलों में सुंदरता नहीं होगी। रस्किन के कथन में 'क्योंकि' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुलाब का फूल सुंदर है क्योंकि (1) इसमें एक वृत्त का पूर्ण सममित है, (2) इसमें पंचभुज की अपूर्ण सममित है, (3) और ये दोनों स्थितियाँ फूल की पाँचों पंखुड़ियों में से प्रत्येक की द्विपक्षीय सममिति द्वारा पैदा की गयी हैं, जो (4) प्रत्येक पंखुड़ी को बाँधने वाली बक्रता और (5) कप–आकार वर्ग को सहनीय बनती है: और फूल को एकरूपता मिलती है इसके (6) गुलाबी रंग से जिसे स्वर की विविधता प्राप्त होती है, (7) केन्द्र की ओर गहराते हुये रंग से, और संरचना की विविधता प्राप्त होती है (8) केन्द्र में पुंकेसर की खुरदुरी सतह और पंखुड़ियों की चिकनी सतह के बीच वैषम्य से। दूसरे शब्दो मे फूल के सौंदर्य को समझने के लिये आठ प्रकार की दृश्य-क्रियाओं की आवश्यकता होती है जो अपने आपमें अन्योन्याश्रित होती हैं।

इसके पश्चात् हम सौंदर्य संबंधी एक दूसरी समस्या पर आते है। व्याप्त आज्ञापालन में कहीं-न-कहीं आज्ञा-उल्लंघन भी होना चाहिये अर्थात् सहजबोध-गम्यता के मध्य रहस्यात्मकता, परिचय के बीच में आश्चर्य का अस्तित्व। अर्थात्, सौंदर्य के संबंध में हमारी सहजबुद्धि को किसी-न-किसी बिंदु पर दुविधा में अवश्य पड़ना चाहिए।

अपरिचय का कितना परिमाण अनिवार्य है इसका पता लगाना आसान होता है, क्योंकि यह कला और प्रकृति में सदैव विद्यमान रहता हैं। प्रकृति के विषय मे कुछ स्थानीय मतभेदों को छोड़कर कोई विशेष मतभेद नहीं होता है। परिचय और अपरिचय का यह मिश्रण प्रकृति के छोटे उपादानों में महत्वपूर्ण होता हैं। लेकिन जब कोई विशाल वस्तु हमारे समक्ष आती है तो भी परिचय और अपरिचय का संतुलन अपने आपको एक कर लेता है। परिचय पुनरावृत्ति का परिणाम होता है और किसी भी प्राकृतिक दृश्य में प्रकृति के नियमों के अपवाद मिल जायेंगे।

उदाहरण के लिये हम किसी पर्वत शृंखला को ले सकते है जिसका निर्माण अनेकों प्राकृतिक शक्तियों के संयोग से संभव हुआ है। इन्हीं विभिन्न शक्तियों के सतुलन अथवा असंतुलन से सौंदर्य की मात्रा निर्धारित होती है। प्रकृति के परस्पर-स्पर्धी शक्तियों के अनवरत संतुलन से ही हमारी सौंदर्यमूलक क्षुधा और परिमाणस्वरूप पर्वत में क्या सुन्दर है और क्या नही उसके विषय में हमारी धारणा में

समानुपातिकता पैदा होती है। रूप (form) की संभावनायें अनंत होती हैं। लेकिन इसके प्रभेदों में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं।

समानुपात की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। घोड़े के रूप में परिवर्तित हाथी असमानुपाती होगा क्योंकि हमारी आखें दोनों पशुओं से परिचित हैं।

और इसके पश्चात् रंग की समस्या आती है, यह भी महत्वपूर्ण है। प्रकृति के रंगमूलक सौंदर्य का एक गणित होता है, जिसे पूरीतौर पर समझा नहीं गया है। रंगों का वैज्ञानिक परीक्षण अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है और यही कारण है कि इस विषय पर अनेक ग्रंथों की रचना हो चुकी है। लेकिन चूंकि ये सारी पुस्तकें स्पेक्ट्रम (रंगवीक्षक) के विश्लेषण और संतरित प्रकाश के परीक्षण पर आधारित हैं अतः उस व्यक्ति के लिये जो सामान्य चाक्षुष अनुभव को विश्लेषित करना चाहता है इनकी उपयोगिता बहुत कम है।

'सामान्य चाक्षुष अनुभव' बड़ा ही जटिल होता है। रूप और रंग किसी भी पदार्थ की संरचना के मुख्य तत्त्व होते हैं फिर भी रूप का महत्व अधिक होता है; रंग में परिवर्तन होता रहता है। रंग अपने 'स्थानीय' रंग और इस पर पड़ने वाले प्रकाश का मिश्रण होता है।

'सामान्य स्थितियाँ' वे होती हैं जब वस्तुओं के रंग पर श्वेत प्रकाश पड़ता है। सौंदर्यान्वेषी रंग को सौंदर्य का एक तत्त्व मानता है। उसका वास्ता इस बात से नहीं है कि पेड़ हरे क्यों होते हैं, और फूल लाल-पीले क्यों होते हैं, उसका वास्ता होता है रंगों के उसके मनोवेगों पर पड़ने वाले प्रभाव से। रंग को क्रिया से संबद्ध करने की अपेक्षा रूप (form) को क्रिया से संबद्ध करना वैज्ञानिक के लिए सरल होता है। लेकिन रंगो का उसका ज्ञान सामान्य व्यक्ति के ज्ञान से कम होता है क्योंकि सामान्य व्यक्ति जिन रंगों की दुनियाँ में रहता है उनके अनेक तह होते हैं जिनका 'स्थानीय' रंग होता है जो उनको आलोकित करने वाले प्रकाश, और आलोकित पदार्थ तथा प्रकाश के बीच रंगों के परिवर्तन से पुष्ट होता है। रंगों की ये दोनों स्थितियां 'स्थानीय' रंग की अपेक्षा अधिक परिवर्तनीय होती हैं। प्रकृति वैसे ही प्रभाव पैदा करती है जो एक रंगशाला में डिमर (dimmers) पैदा करते हैं। प्रत्येक प्रातः वेला और सांध्य वेला रंगों के उतार-चढाव का सुंदर उदाहरण है। सूर्य के घटते-बढ़ते प्रकाश में पृथ्वी का रंग परिवर्तित होता रहता है। लेकिन ये परिवर्तन आलोकित पदार्थ के गुण न होकर बाह्य स्थितियों से उद्भूत होते हैं। 16वीं सदी के पश्चात् कलाकारों ने इस अंतर पर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया था।

इस प्रकार रूप (form) का सत्य रंग के सत्य से काफी पुराना है। अत कौन सी रंग-योजना सुंदर है, कौन नहीं यह विचार हमारे रूप-सौंदर्य की धारणा

पर निर्भर करता है। इस प्रकार यद्यपि मनुष्य की रंग-अनुभूति दो भागों में बाटी जा सकती है फिर भी दोनों आपस मे मिलते रहते हैं। यही कारण है कि प्राचीन कलाकारों ने वस्तु के अपने रंग में बाह्य तत्त्वों के हस्तक्षेप को अनिच्छा से ही स्वीकार किया और इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण है 1465 के लगभग निर्मित गियोबेनी बेलिनी का 'द एगांनी इन दि गार्डेन'। इस प्रकार यह निश्चित है कि रंग-अनुभूति रूप-अनुभूति से किसी-न-किसी प्रकार भिन्न होती है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे क्रियाशील अनुभूति और निष्क्रय अनुभूति का अंतर कहेंगे। यह अतर बहुत स्पष्ट न होने पर भी बड़ा ही महत्वपूर्ण है। शिक्षा तभी पूरी होती है जब शिक्षार्थी उसमें पूरी तरह हिस्सा ले। रूप का ज्ञान एक प्रयास का फल है जबकि रंगानुभूति रेटिनल (दृष्टिपटलीय) नाड़ियों की संवेदनशीलता से आती है। रूप को एक पुस्तक की भांति पढ़ा जा सकता है जबकि रंग का केवल अनुभव किया जा सकता है। देखना भी दो प्रकार का होता है—एक केवल आँख की पुतली का संचालन मात्र होता है और दूसरा होता है ध्यानपूर्वक देखना।

इसी कारण रंग की हमारी अनुभूति इन्द्रियजन्य होती है जबकि रूप की अनुभूति बुद्धिजन्य। आँखों को आकर्पित करने वाली रंगानुभूति सामान्यतः वही होती है जो प्रकृति में होती है—अर्थात्, नीले आकाश से घिरे हुए क्षेत्र, हरे-भरे मैदानों, खेत और भूरे बादलों आदि के मध्य संतुलन। लेकिन यह आँखों की यत्र-विधि पर भी निर्भर होती है।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि रंगानुभूति दृष्टिपटलीय नाड़ियों से जुड़ी हुई असख्य नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचायी जाती है—ये नाड़ियाँ विभिन्न वर्गो में विभाजित होती हैं और प्रत्येक एक विशिष्ट रंगयोजना के प्रति संवेदनशील होती है। प्रत्येक वर्ग उसी रंगविशेष से उत्तेजित अथवा क्लांत होता है। इस संदर्भ में महत्व दीप्ति (brightness) का उतना नहीं होता जितना समन्वय (harmony) का। वर्णिक समन्वय के नियमों को सुस्थित करने के अनेको प्रयास किए गए है। लेकिन इनमें से अधिकतर प्रयास अपने उद्देश्य में सफल नही हो पाये हैं। अपेक्षाकृत सरल नियमों को थोड़े से शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है जबकि प्रकृति की जटिलताओं का विश्लेषण अत्यंत कठिन होता है क्योकि इनमें कई तत्व उलझे हुए होते हैं : सापेक्षित ज्योतियाँ, सापेक्षित स्वर, सापेक्षित प्रखरताएँ, सापेक्षित क्षेत्र, सन्निधान, ये सभी महत्वपूर्ण भूमिकायें निभाते है। और जैसा रूप के गणित में, वैसे ही रंग के रचना-विधान में भी, सिद्धातो का प्रतिपादन तो सरल होता है लेकिन उनकी व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट करना कठिन। केवल सहजबुद्धि ही इन संबंधों को ग्रहण कर सकती है।

बहुत से सिद्धांतवादियों ने गणित पर आधृत रंग-संयोजन के नियमों का प्रति-

पादन करने का प्रयास किया है लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली है क्योंकि हमारा चाक्षुप अनुभव व्योमव्यापी होता है और समयानुक्रम का स्थान एक क्षेत्र ले लेता है जिसका प्रत्येक अंश एक साथ ही दृश्यमान हो जाता है। ऐसी स्थिति में केवल उन्हीं नियमों को संहिताबद्ध किया जा सकता है जो रंग की अपनी प्रकृति द्वारा लाद दिये गये हों।

विशुद्धतम रंग का एक विलक्षण चिह्न यह है कि प्रत्येक रंग का अपना-अपना दीप्ति-स्तर होता है। स्पेक्ट्रम को देखकर हमें तत्काल एक पराकाष्ठा की अनुभूति होती है—एक ऐसी पराकाष्ठा जो रंग-प्रखरता की न होकर प्रकाश के दीप्ति की होती है। इस स्वाभाविक पराकाष्ठा में कलाकार अपने को खतरे में डाल कर ही हस्तक्षेप कर सकता है जैसे कोई संगीतज्ञ अपने आर्केस्ट्रा में बेसुरेपन को मिलाकर खतरा उठाता है। प्रकृति स्वयं ऐसे बेसुरेपन का प्रायः आश्रय लेती है लेकिन वह इसे इस तथ्य के द्वारा छिपा लेती है कि चक्षुओं का कष्ट मन के उल्लास के समक्ष नगण्य होता है।

रंग-संयोजना की उपेक्षा के अतिरिक्त, प्रकृति में रंग-संतुलन का भी निश्चित ही अभाव होता है। हरे, नीले, और भूरे रंगों (वनस्पति, आकाश और बादल) की लाल, पीले और नारंगी रंगों की अपेक्षा प्रधानता भी विलक्षण है और कलाकार इनमें स्वत. संतुलन बना लेता है। रंग-संयोजन का वह अनुक्रम, जो प्रकृति में विचित्र और अपरिचित होता है, कला में सामान्य माना जाता है।

ये सारे प्रमाण हमारे इस सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं कि चाक्षुष सौंदर्य का हमारा स्तर चाक्षुप अनुभूति द्वारा उद्वेलित क्षुधाओं पर आधृत होता है। इससे पहले मैंने यह विचार व्यक्त किया है कि प्रकृति की आलोचना नहीं की जा सकती है क्योंकि हम स्वयं इसके अंश हैं और इसकी समीक्षा करने के लिये हमारे पास कोई वस्तुपरक प्रतिमान नहीं है। फिर भी प्रकृति का एक ऐसा अंश है जिसकी समीक्षा की जा सकती है। और वह यह है कि रंग के संदर्भ में सौंदर्य का एक ऐसा प्रतिमान अस्तित्व में है जो प्रपंच-जगत से निरपेक्ष है, एक ऐसा प्रतिमान जिसकी कुंजी चक्षुओं के यंत्र-विन्यास में निहित है।

इस संबंध में व्यक्त किये गये विचारों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केवल यही नहीं कि रंगों का संसार, जैसा कि इसे हम जानते हैं, रूप के संसार से भिन्न, कारण-प्रभाव की एक अलग शृंखला पर ही प्रकट होता है अपितु इसके हमारे बोध की प्रजाति ही भिन्न होती है। और यह अंतर वर्ण और शब्दकोश के अंतर के समान है। शब्दकोश से शब्दों को निकाल कर अर्थ के आधार पर हम उन्हें व्यवस्थित कर सकते हैं क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने-अपने अर्थ के लघुभार के साथ होता है।

लेकिन अपने चारों ओर जिन रंगों को हम देखते हैं वे शब्दों की भाँति अर्थ गर्भित नहीं होते, पहले उन्हें शब्दों की भाँति समूहबद्ध करके ही उनके अर्थों की खोज की जा सकती है।

चाक्षुष-संसार में प्रकृति के रंग-वर्णन का कोई समकक्षी नहीं होता। एक वर्ण से अमूर्त अवधारणाओं का संयोजन होता है और चाक्षुष-संसार में इसका समकक्षी रंग-मंजूषा होती है। एक रंग-मंजूषा के आधार पर परिकल्पित विश्व में जन्म से ही बंद रहने वाला कलाकार रंगों के संसार को सृजित कर सकता है लेकिन रूप के संसार का सृजन नहीं कर सकता है। यह परिकल्पित कलाकार सौंदर्य के अनुसंधान में रंगों को तब तक प्रयोग करता रहेगा जब तक कोई आनंद-बोध उसे नहीं हो जाता। लेकिन इस साधन से वह रूप के संसार को कभी नहीं प्राप्त कर सकता है।

ध्वनि-संसार के लिये भी एक ऐसा ही उदाहरण दिया जा सकता है। प्रकृति में ऐसे अनेकों ध्वनि-अनुक्रम होते हैं जिनमें संगीतात्मकता नहीं होती, यद्यपि श्रवण इन्द्रियों तक वे वैसे ही पहुँचते हैं जैसे संगीत की लहर। फिर, हम इन्द्रिय-बोधों के अनुक्रम से संबंधित हैं, अर्थात् तरंगों के एक विशाल समूह से। लेकिन इससे भी हम प्रकृति की संगीतात्मकता का कोई प्रतिमान नहीं निकाल पाते। जब पेड़ों के बीच से सरसराती हुई वायु को हम सुनते हैं तब हमें उसी प्रकार का अनुभव होता है जैसे यदि हम वर्णों की बौछार में फँस जायँ। जब हम कोई वाद्य-यंत्र—जो रंग-मंजूषा का समकक्षी होता है—बना लेते हैं तभी संगीतात्मक संबंधों को जान सकते हैं और इन संबंधों से क्षुधाओं के उस अनुक्रम को रच सकते हैं जिससे हम सौंदर्य का कोई प्रतिमान निकाल सकते हैं।

●

चमकती हुई हरी, मुलायम घास और रंग-बिरंगे फूलों से भरा हुआ मैदान हमें बड़ा ही सुंदर प्रतीत होता है। लेकिन मैदान में घुसते ही यदि हमें यह ज्ञात हो जाय कि रंग-बिरंगे फूल वास्तव में कागज के टुकड़े थे तो हमें बड़ी निराशा होगी और हमारे पहले के सौंदर्य-बोध को एक झटका-सा लगेगा। इंद्रिय-बोध और प्रत्यक्ष बोध में चक्षुओं के अतिरिक्त अन्य इंद्रियों का सहयोग आवश्यक होता है। इसी प्रकार अन्य वस्तुयें भी हैं जो एक समूह में ही सुंदर लगती हैं और उन समूहों से उन्हें निकाल देने पर उनका सौंदर्य कम हो जाता है। बुलबुल का संगीत वसंत ऋतु की मदमाती हवाओं और चाँदनी रातों से अलग होकर अपना सौंदर्य कायम नहीं रख सकता।

'विशुद्ध' अनुभव नाम की कोई चीज नहीं होती। कोई केन्द्रीय अनुभव हो सकता है लेकिन इस केन्द्रीय अनुभव में अन्य गौड़ अनुभवों के फलस्वरूप आरोह-

अवरोह होता रहता है। दिन-प्रतिदिन के जीवन की अपेक्षा कला-संसार में यह मिश्रण अपेक्षाकृत कम होता है। संगीत का संबंध श्रवणेन्द्रिय से होता है लेकिन किसी संगीत रचना का श्रवण-बोध तमाम अन्य बोधों में केवल सर्वाधिक महत्व-पूर्ण ही होता है, यद्यपि संगीतकार ने केवल हमारे श्रवण-बोध को ही ध्यान में रखा था।

फिर भी, यहाँ पर हम कलाकार द्वारा हमारे इंद्रियबोधों को अलग कर उनके शोधन पर हम संदेह नहीं करते। हमारे असली प्रश्न का संबंध जीवन के असंख्य अनुभवों से है, इन असंख्य अनुभवों को शुद्ध घोषित करने का अर्थ होगा जीवन के उद्देश्य की खोज, जिसे लेकर आज तक कोई प्रयास नहीं किया गया है। चाक्षुप सौंदर्य केवल चाक्षुप अनुभव पर आधृत होता है। यह एक ध्रुव सत्य है। जब तक चाक्षुप सौंदर्य को दृश्य-जगत के गणितीय व्यवहार द्वारा उत्पन्न इंद्रियबोध माना जायेगा तब तक सौंदर्य का परीक्षण उन गणितीय नियमों के परीक्षण तक ही सीमित रहेगा जिनमें एक बोध दूसरे बोध से अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इस बोध विशेष के सृजन में अधिक जटिल नियमों का हाथ था। लेकिन इस प्रकार का परीक्षण हमारे इस मूल प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि एक अश्व एक शूकर से अधिक सुंदर क्यों होता है।

सावयविक प्रकृति का मूल तथ्य यह होता है कि यह वृत्तिमूलक होती है। संक्षेप में इसका तात्पर्य हुआ कि निश्चित इच्छाओं, भयों और एक निश्चित पर्या-वरण में कोई पौधा अथवा पशु अपने को इस प्रकार बदल लेगा जिससे अपने भयों को कम कर वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति को संभव कर सकता है। इन परिवर्तनों के पश्चात् इसमें और अधिक परिवर्तन नहीं होगा और यह एक 'प्रजाति' बन जायेगा। उसके पश्चात् पर्यावरण में आया हुआ परिवर्तन ही इसमें परिवर्तन घटित कर पायेगा। प्रत्येक प्रजाति किसी विशिष्ट समस्या का अंतिम परिणाम होती है। और विशेषरूप से किसी प्रजाति का दृश्यरूप हमारे मस्तिष्क में अपनी समस्याओं के साथ आता है। चींटीखोर के नाक की लम्बाई, इसकी जिह्वा की लम्बाई और इसकी गति चींटियों के लिए इसकी क्षुधा का परिणाम है, इसी प्रकार थुथनी लालच का और पाँव गति का प्रतीक बन जाते हैं।

विकास की प्रक्रिया के पीछे यही वृत्तिमूलक शक्ति होती है। यदि प्रकृति में सौंदर्य है तो इसका कारण यह नहीं कि यह वांछनीय होता है अपितु इसलिये कि किसी न किसी रूप में यह प्रजातियों के लिए उपयोगी होता है। मयूर का सौंदर्य उसके अस्तित्व का आधारभूत तत्त्व है। किसी भी स्थिति में मयूर का सौंदर्य मनुष्य की सौंदर्य-क्षुधा का परिणाम नहीं।

लेकिन मनुष्य अपने संसारको सुंदर और असुंदर में विभाजित कर लेता

ह तो इसका एकमात्र आधार होता ह कि कौन सी वत्तिया वाछनीय अथवा श्लाघ्य है और कौन नहीं। यदि मनुष्य के लिए घोड़ा सुअर से अधिक सुन्दर है (इस बात को कोई भी सुअर स्वीकार नहीं कर सकता) तो केवल इसलिए कि घोडे की इच्छायें और क्षुधायें मनुष्य के अधिक निकट है, अर्थात् वह वृत्तियों को अपने अनुसार उपयोगिताक्रम में व्यवस्थित कर लेता है, अर्थात् मनुष्य अपने भयो, इच्छाओं और अवसादों के आधार पर ही उन्हें महत्व देता है। इन इच्छाओं और क्षुधाओं में सर्वाधिक महत्व होता है शक्ति और स्फूर्ति का और घोडे के आकार मे वह उस शक्ति और स्फूर्ति की कल्पना कर लेता है जो उससे परे हैं। जब वह और अधिक शक्ति और स्फूर्ति की कल्पना करता है तो वह पैगेसस (पंखधारी अश्व) का आविष्कार कर लेता है और जब वह अपने को शक्ति-संपन्न कर धरती के ऊपर उठने की बात सोचता है तो वह स्वर्ग-दूत का आविष्कार कर लेता है। उसकी जुगुप्साओं में सर्वाधिक महत्व है कीचड़, धूल और धरती से सर्वाधिक सान्निध्य का भाव और इसमे वह सुअर को अपने विपरीत पाता है। इन्हीं सब बोधों के एकजुट होने से घोड़ा सुअर से आगे निकल जाता है। कलाकार के लिए, और विशेषरूप से वस्तुशिल्पी के लिए, जिसके लिए चाक्षुष अनुभूति सर्वाधिक महत्व की होती है, साहचर्य का बहुत ही कम महत्व होता है।

एक बार यह स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात् कि प्रकृति वृत्तिमूलक तो है लेकिन इसकी सभी वृत्तियाँ समान श्लाघ्य नहीं होतीं, हमारा सामना सौंदर्य के गणितीय सिद्धांत के एक भीषण प्रतिद्वन्द्वी से होता है। किसी फिल्म तारिका का सौदर्य उसकी वांछनीयता और सानुपातिकता पर ही निर्भर करता है और उसकी वांछनीयता का मूल्यांकन सभी इन्द्रियों द्वारा समान निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रचालित होने से ही संभव हो सकता है। इसमें सर्वाधिक शक्तिशाली अव-यव मस्तिष्क होता है और यह एक बड़ी विलक्षण बात है कि यह मस्तिष्क दो आँखों के माध्यम से विभिन्न चाक्षुष-बिम्बों को एक त्रिविध बिम्बक में पिरो सकता है।

दैनन्दिन जीवन में इस संयोजन का प्रयास लाभदायक नहीं। इसका कोई उपयोग नहीं होगा। इतना ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि प्रकृति का सौंदर्य दर्शक के चक्षुओं में ही नहीं रहता अपितु उसके घ्राणशक्ति, श्रवणशक्ति, और स्पर्श-बोध में भी रहता है। कलाओं की स्थिति भिन्न है। कला-कलाकार द्वारा इन्द्रिय-बोधों के एक सीमित समूह को सम्बोधित कर समान संवेगात्मक दृष्टि उत्पन्न करने के एक सुविचारित प्रयास का परिणाम होती है। स्वभावतः हम चित्रकला और वस्तुकला को, जो आँखों को सम्बोधित होती है, और संगीत को जो श्रवणशक्ति को सम्बोधित होता है, कला-अनुक्रम में नाटक और नृत्य-नाट्य,

जो दोनों को सम्बोधित होती हैं, की अपेक्षा ऊंचा स्थान देते हैं, क्योंकि कला के रूप में वे अधिक शुद्ध हैं। कोई भी कला उसी अनुपात में शुद्ध होगी जिस अनुपात में कलाकार की अपील सीमित होगी।

अतः जब हम देखते हैं कि एक ही इन्द्रिय को सम्बोधित कला-कृतियों के विषय में गंभीर मतभेद हैं तो यह जाँचना बड़ा ही रुचिकर होगा कि विभिन्न मतों की पृष्ठभूमि में विद्यमान तत्वों को एक-दूसरे से अलग कर उनका वर्गीकरण कर लिया जाय।

चित्रकला और वास्तुकला के संगीत की ही भाँति, अपने 'शुद्ध' अथवा गणितीय सौंदर्य होते हैं। लेकिन उनमें नैतिक प्रस्तुति का लक्षण होता है जो उन्हें स्वयं जीवन के विशिष्ट अनुभवों से बाँधे रहता है। वृक्षारोपण अथवा सेव के किसी भी चित्र को औपचारिक नियोजन के रूप में ही समझा जा सकता है। एक बार यीशु अथवा सेव के चरित्र को पहचान लेने के पश्चात् कपाट खुल जाता है और साहचर्यों की एक बाढ़-सी आ जाती है। ये साहचर्य चित्र की सुन्दरता में अभिवृद्धि भी कर सकते हैं और उसकी सुन्दरता को घटा भी सकते हैं। लेकिन उनका प्रभाव इस पर पड़कर ही रहेगा और दर्शक औपचारिक सौंदर्य के प्रति जितना ही कम सचेत होगा उसके अंतिम मूल्यांकन पर साहचर्यों का प्रभाव रहेगा।

●

कलाकृति का जन्म अनुभव के बीच से होता है। जिसे हम कलाकार की कल्पना कहते हैं अर्थात, सृजनात्मक यंत्रविन्यास का वह अंश जो कलाकृति की अवधारणा करता है, एक ऐसी मशीन मात्र है जिसमें उसके जीवन भर के अनुभव संग्रहीत होते हैं। अपने समग्र अनुभवों में से वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुभव को चुन लेता है। जब वह दैविक शक्ति धारण कर अपनी अवधारणाओं को कलाकृति का रूप देता है उस समय उसका सृजन शायद ही उसके अनुभवों के सदृश्य रह जाता हो। जीवन के अति सामान्य अनुभवों से विश्व की महान् कलाकृतियों का सृजन हुआ है। अपने बहुरूपी अनुभवों में से चुन-चुन कर महान् कलाकारों ने ऐसी कृतियों का सृजन किया है जो देखने में चमत्कारिक नवीनता से ओतप्रोत लगती हैं। जिस प्रकार सीपी में रत्नजटित हार का मूल स्थल होता है उसी प्रकार जीवन के अनुभव कलाकृतियों के जनक होते हैं। आभ्यंतरिक जीवन बाह्य जगत् का उपोत्पादन होता है। यही तथ्य कलाकृतियों के विषय में भी लागू होता है।

अतः यह कहना ठीक ही होगा कि कला वह शिशु है जिसका पिता कलाकार है और जिसकी माता पर्यावरण है। उसी प्रकार हम रसिक उस शिशु के चाचा-चाची हैं। हमने उनके सृजन में कोई सहयोग नहीं दिया है लेकिन फिर भी

उनसे हमारा पारिवारिक रिश्ता हैं। हमारे माता-पिता उनके पितामह-पितामही हैं। कलाकार हमारे अनुज-अनुजा है।

इस प्रकार कलाकृतियों से हम रसिकों का विशिष्ट संबंध है। प्रकृति में किसी उपादान के प्रति हमारा दृष्टिकोण एक प्रकार का होता है लेकिन वही उपादान किसी कलाकार की तूलिका से निखर कर हमारे दृष्टिकोण को बदल सकता है। कलाकार ने जिस कच्चे माल का प्रयोग अपनी कला में किया हैं वह हमारा नहीं है, अतः उसकी कला का अनुशीलन और समीक्षा करने का हमें अधिकार है हालांकि हम प्रकृति की आलोचना नहीं कर सकते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकृति का सौंदर्य प्रकृति में उसकी मूल प्रति से भिन्न है। प्रकृति को स्वीकार करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई विकल्प नहीं हैं। लेकिन कलाकृति को हम तभी स्वीकार करेंगे जब वह हमारी क्षुधा को शांत कर सके। और इस क्षुधा का स्वभाव कलाकृतियों के विषय में हमारी पूर्वनिश्चित धारणा पर निर्भर करेगा। रत्नहार की रचना करते समय कलाकार के मन में अन्य कलाकारों की भी इसी प्रकार की रचनाओं का स्वरूप विद्यमान रहा होगा। यद्यपि उससे पूर्व बनाए गए रत्नहार उसे पूर्णतः रुचिकर नहीं लगेंगे फिर भी उनका प्रभाव उसके ऊपर अवश्य ही रहेगा।

दर्शक या प्रेक्षक की सौंदर्य-क्षुधा तमाम कलाकृतियों से रूपित एवं प्रभावित होती है। हमारे अनुभव केवल तथ्य जगत् तक ही सीमित नहीं होते। यहाँ तक कि हमारे कलागत अनुभव कलाकार से भी ज्यादा विस्तृत होते हैं, क्योंकि संभव है कि उसने उन सभी कलाकृतियों को न देखा हो जिन्हें हम देख चुके हैं और आत्मसात् कर चुके है। जिस प्रकार सीपी की हमारी स्वीकृति हमारे इस पहचान पर निर्भर करती है कि यह जीवन के एक समस्वर-संचयन का एक अंश है उसी प्रकार रत्न-माला की स्वीकृति भी सीपी से हमारे संबंध पर निर्भर करती है। इस संबंध की उपेक्षा करते ही कलाकृति हमारे लिए दुरूह हो जाती है और हम उसे अस्वीकार कर देते हैं। और हम अपनी अस्वीकृति को कलाकृति की कुरूपता से न्यायोचित सिद्ध कर लेते हैं। मानवीय कल्पना की ऐसी अभिव्यक्ति के लिए हमारे अनुभवों ने हमें प्रस्तुत ही नहीं किया था। फिर भी प्राचीन कलाकारों के संबंध में इस स्थिति की गुंजाइश कम रहती है क्योंकि जन्म का प्रमाणपत्र उनकी कृतियों के साथ होता है। थोड़ा-सा चिंतन, दूसरे कलाकारों से उनकी तुलना आदि से स्पष्ट हो जाता है कि अनुभव के झोले से आवश्यक अनुभवों को एक साथ रखने का उनका एक तर्कसंगत ढंग था। यह सच होते हुए भी कि उनकी आवश्यकताएँ हमारी आवश्यकताओं से भिन्न थीं, हम समय-जन्य परिवर्तनों पर विचार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।

समसामयिक कलाकारों के संबंध में स्थिति बदल जाती है। उनके अनुभव हमारे अनुभवों के लगभग समान होते हैं। अनुभवों को चुनने और व्यवस्थित करने का उनका अपना दृष्टिकोण होता है जो हमारे से भिन्न हो सकता है। अत उनकी कलाकृतियों में हमें अपरिचय का, कुछ ऐसे उपादानों का जो हमारे अनुभव-कोष में अभी तक नहीं आए हैं, अनुभव होता है और अपरिचय कभी-कभी इतना अधिक हो जाता है कि कृति को अस्वीकार करने की संभावना बढ़ जाती है। हम अपनी अक्षमता का दोष कलाकार पर थोप देते हैं; हम उसकी कृतियों में कुरूपता को आरोपित कर देते हैं।

लेकिन कुरूपता की यह अवधारणा बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं होती। प्रकृति की कुरूपता और कला की कुरूपता में अंतर होता है। प्रकृति में कुरूपता का आरोप करते समय हमें क्रोध नहीं होता लेकिन कला की कुरूपता हमारे आक्रोश को जगा देती है। यह हमारी कमजोरी है और हम इसे जानते हैं। हमें शंका होती है कि आने वाली पीढ़ी इसे कुरूप नहीं कहेगी क्योंकि यह कृति तब तक उनके पर्यावरण का अंग बन चुकी होगी। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि सौंदर्य की धारणा समय-सापेक्ष भी होती है। इसप्रकार इस बात का अन्वेषण अवश्य किया जाना चाहिए कि एक पीढ़ी के आक्रोश का शिकार होने वाली कलाकृति आगे आनेवाली पीढ़ी को किस प्रकार संमोहित कर लेती है। अर्थात् हमें 'रुचि' के परिवर्तनों पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए। रुचि वह शक्ति है जो सौंदर्य के प्रकारों और सौंदर्य के परिमाणों में भेद कर सकती है। लेकिन इसके पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि कला कैसी बनती है।

कलाकार के अभिप्राय के बारे में विवाद करने की आवश्यकता नहीं। 'क्यों ?' और 'कहाँ से ?' दार्शनिक की चिंता है, हमारा संबंध केवल 'क्या ?' से है। इस परीक्षण में रत्नहार का उदाहरण ठीक नहीं होगा। कला केवल कुछ टुकड़ों का संग्रह, उनकी तर्कसंगत व्यवस्था मात्र नहीं है। कला क्या है ? इसके चिंतन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रकृति से कहीं अधिक दुरूह और जटिल होती है। प्रकृति के विपरीत, इसमें मानवीय अभिप्रायों, दृष्टिकोणों, वक्तव्यों, अवसादों, वरीयताओं का समावेश होता है। कलाकार का दृष्टिकोण वृत्तिमूलक नहीं होता। उसके लिए वंजुवृक्ष बहुत कुछ हो सकता है। उसके लिए यह शक्ति, समूहों की सुव्यवस्था, गहरे भूरे और पीताभ हरीतिमा के रंग-संयोजन आदि का प्रतीक हो सकता है। यदि प्रकृति द्विआयामीय है तो कला त्रिआयामीय। यह एक प्याज के समान है जिसकी पर्त-दर-पर्त उखाड़ने के पश्चात् एक कठोर गूदे का दर्शन होता है।

इस प्याज की संरचना बड़ी रुचिकर होती है। इसकी विभिन्न पर्तों को

इसका मूल तत्व मान लिया गया है। लेकिन कोई भी चिंतक आज तक यह नही जान सका है कि यह निरंतर संरचना है, और इसकी एक पर्त अपने आगे की पर्त से अविभाज्य रंग से जुड़ी होती है।

चित्रकला का उदाहरण ठीक रहेगा। एक सपाट फलक पर कलाकार ने कुछ रग बिखेर दिए हैं और उन्हें इस प्रकार बिखेरा है कि उनसे किसी अभिप्राय का बोध होता है, एक ऐसा अभिप्राय जो उसके प्रज्ञा-चक्षुओं में विद्यमान था। चित्र-कला की इस परिभाषा से, हो सकता है, बहुत-से पाठक सहमत न हों, लेकिन फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अधिकांश चित्रकलायें सादृश्यमूलक होती है। चित्रकार द्वारा बिखेरे गए रंगो, आकारों का अर्थ हमें तभी स्पष्ट होता है जबकि उनके द्वारा निर्मित आकार हमारे अपने अनुभव के समरूप होते है। इन आकारों को देखकर अपनी स्मृतियों और अनुभवों में हम उनके सादृश्य खोजने का प्रयास करते हैं। उनके प्रति हमारा आकर्षण अथवा विकर्षण इसी बात पर निर्भर करता है कि हम उन सादृश्यों को अपनी स्मृतियों एवं अनुभवों में खोज पाते हैं कि नही। यहाँ तक प्याज का ऊपरी छिलका माना जाना चाहिए; कला-कृति छायांकन की सीमा से अभी आगे नहीं बढ़ी है। मर्मज्ञ कलाप्रेमी इस रहस्य को जानता है अतः वह अपने मूल्यांकन को इसी सतर पर नही आधृत करता। 'हेटली कासल' (प्लेट 1) के आलोचकों ने उसकी सादृश्यमूलकता को ही यथार्थ मानकर उसे निकृष्ट माना।[1] 'वीनस राईसिंग फ्राम हर काउच' (1830, प्लेट 2) की आलोचना इसलिए हुई कि आलोचक प्याज की पहली पर्त से आगे तो बढ़े लेकिन दूसरी पर्त उन्हें कुरुचिपूर्ण लगी।[2]

इसके आगे आनेवाली पर्त से ही कलाकार का कर्त्तव्य प्रारंभ होता है। यहीं पर वह जीवन के प्रति अपनी दृष्टि को स्पष्ट करना प्रारंभ करता है। 'लिट-रेरी गजट' का आलोचक इसलिए रुष्ट है कि कलाकार एक जीवित महिला का सादृश्य नही प्रस्तुत कर पाया है। लेकिन कलाकार की यह असफलता उतनी मह-त्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि उसके चित्र को देखकर युवतियाँ लज्जित होती है। 'सरल' और 'मोहक' की जो धारणा 1830 में थी उससे हमारा कोई सरोकार

---

1 'यह घटिया रुचि का फल है, प्रकृति के किसी भी रूप से इसका सादृश्य नहीं बैठता,'—जेंटिलमैन्स मैगजीन (1829)

2 'इसका रेखांकन बुरा है, रंग संयोजन बुरा है, और सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें कोमलता नहीं है। आखिर ऐसी कलाकृति से क्या लाभ जिसे देखकर सामरसेट हाउस की प्रतिदिन शोभा बढ़ाने वाली सरल और आक-र्षक युवतियों की भावनाओं को चोट पहुँचे और उन्हे लज्जा आ जाये।' (लिटरेरी गजट, 1931)

नहीं। मुख्य प्रश्न यह है कि आलोचक यहाँ पर 'बुरी' चित्रकला और 'कोमलता रहित' चित्रकला में अन्तर करता है। पहला विशेषण कलाकार की सादृश्यमूलक प्रस्तुति की क्षमता से संबंधित है और दूसरे का संबंध उसके दृष्टिकोण से है। अर्थात् प्रथम पर्त से आगे वह ऐसा कुछ करता है जो कैमरे के लिए असंभव है। मान लीजिए वह सेवों से भरी हुई एक तश्तरी बनाता है, सेवों को देखते ही तमाम वरीयतायें उसके मस्तिष्क में आ जाती है। सेव हरे, चमकदार और गोल हैं। लेकिन वह सेवों के इन सभी गुणों में से एक से प्रभावित होता है। वह जिस गुण से आकर्षित होता है उसे अन्य गुणों से अलग कर लेता है और इस प्रकार चित्र में वह अपने व्यक्तिगत वक्तव्य को व्यक्त करने में सफल हो जाता है।

लेकिन यह वक्तव्य उस विषय से इसप्रकार बँधा हुआ है कि यह उसे वैयक्तिक अभिव्यक्ति के लिए बहुत अधिक आजादी नहीं देता। इस पर्त को हटाते ही एक ऐसी पर्त का दर्शन होता है जहाँ पर कलाकार ने विश्व के प्रति अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। इसी पर्त के साथ कलाकार अपने विषय से अपने को मुक्त करने के लिए संघर्ष प्रारंभ करता है। इसी बिन्दु पर वह अपने अनुभवों को तोड़ता-मरोड़ता है। दृश्य जगत् के उन पहलुओं पर वह ध्यान केंद्रित करता है जो उसे उत्तेजित करते हैं और इसी उत्तेजना की अवस्था में वह अपने सहधर्मी कलाकारों के समूह में शामिल हो जाता है। भौतिक चक्षु जितना कुछ भी देख पाते हैं उसे ग्रहण कर लेते हैं और फिर ऐन्द्रिक स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क को सब कुछ सौंप देते हैं जहाँ इनकी काट-छाँट होती है और इस प्रक्रिया को कलाकार की शैली कहा जाता है। दृश्य जगत् के विभिन्न पदार्थों में से चुनने की इसी प्रक्रिया को कलाकार का प्रेम-व्यापार कहा जा सकता है जो उसे वैज्ञानिक से अलग करता है। 'यही मैंने देखा है' के स्थान पर 'इसे ही मैंने प्यार किया है' प्रतिस्थापित हो जाता है। अंधापन, जो प्रेमी का विशेषाधिकार होता है, अंतिम परिणाम में उतना ही योग देता है जितना चाक्षुष क्रिया। 'नेत्रहीनता' और 'सनेत्रता' के इसी मिश्रण से कलाकार अपने वक्तव्य को प्रभविष्णुता प्रदान करता है। यह आवश्यक है कि मस्तिष्क के ये प्रणय-सदृश्य दृष्टिकोण सत्य की अभिव्यक्ति हों लेकिन यह भी आवश्यक है कि वे समग्र सत्य की अभिव्यक्ति न हों। उनका समान लक्षण यही है कि वे कलाकार की आसक्ति को प्रकट करते हैं। जूतों की जोड़ी अथवा पर्वत-माला दोनों उसके उद्देश्य में समान रूप से सहायक हो सकते हैं। इसी के आधार पर प्याज के संभवतः सबसे मोटे छिलके को उतारा जा सकता है।

इसके पीछे की पर्त अपेक्षाकृत कम अपरिभाषीय है क्योंकि विषय से अपने को मुक्त करने का कलाकार का प्रयास यहाँ सफल हो जाता है। दृश्य जगत् अथवा सेव अब उसकी चिंता नहीं है, अब वह आकारों और रंगों, अनुपातों, तुलनाओं और सन्निधानों में लवलीन होता है। यह लवलीनता अमानवीय लग

सकती है लेकिन यहीं से कलाकार वक्तव्य देना बंद कर देता है और गाना प्रारंभ करता है। उसकी प्रेयसी की सुषमा में अब गेयता और प्रवाह आ जाता है, और वह दृश्य जगत् से भिन्न हो जाती है। यही स्थल कलाओं का मिलन विंदु होता है। अब हम प्याज के गूदे के निकट पहुँच रहे हैं। चित्रकार, मूर्तिकार अथवा संगीतकार एक ही प्रकार की क्रिया में लगे हुए हैं अर्थात् वे अपने प्रिय रंगों, आकारों, स्वरों को संयोजित कर रहे हैं। जीवन के अनुभवों से वे अब भी बँधे हुए हैं लेकिन वैसे नहीं जैसे प्रारंभ में। हरे सेब के प्रति आसक्ति अब हरे रंग के प्रति आसक्ति में बदल जाती है, बंजुवृक्ष के प्रति आसक्ति अब खुरदरेपन और कठोरता के प्रति आसक्ति बन जाती है। यदि चित्र रूक्ष और कठोर रंगों और आकारों से भर जाता है तो कलाकार न तो बंजुवृक्ष का वर्णन कर रहा है और न ही बंजुवृक्ष के प्रति अपने दृष्टिकोण का वर्णन कर रहा है। वह तो 'बंजुवृक्षता' के चारों ओर एक प्रकार का सम्मोहन बुन रहा है।

ये सम्मोहन कुछ अपरिचित प्रकार के होते हैं। वे मस्तिष्क की उपेक्षा कर उसकी अवहेलना करते हैं। उनकी शक्ति प्रवेश विंदु—आँख, कान, अंगुलियाग्र, नासिका—से संवेग के विश्राम-स्थल तक सीधे प्रचालित होने में निहित होती है। क्योंकि कलाकार वर्णन भी कर सकता है और व्याख्या भी कर सकता है अत उसकी सम्मोहन-क्रिया को भुला दिया जाय, लेकिन इसकी यथार्थता को अस्वीकार नही किया जा सकता है।

कुछ चित्रकार ऐसे हैं जो वर्णन करने अथवा वक्तव्य देने से इनकार करते हैं लेकिन वे अपनी रचनाओं में अपने अमूर्त अभिप्रायों को व्यक्त करते हैं जिनका कोई 'अर्थ' नहीं होता, उन्हें आप द्विआयमीय वास्तुशिल्प अथवा चाक्षुषी संगीत कह सकते हैं। तर्क है लेकिन इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। उनका तर्क है कि मैं कलाकार हूँ और मेरा काम है अपने प्रिय रंगों और आकारों को इस प्रकार व्यवस्थित करना जो मुझे प्रिय हो। फिर मैं दृश्य-जगत् के निरूपण मे क्यो परेशान होऊँ ? और फिर अपने प्रेक्षकों को पेड़ों और वस्त्रों की ओर संदर्भित कर उनसे अनावश्यक श्रम क्यों कराऊँ ?'

तर्कशास्त्रियों की भाँति उसकी बात सही है, वास्तव में समस्या का मूल इसी तर्क में है। लेकिन वस्तु-जगत् के उपादानों को उपेक्ष्य मानकर वह एक बात भू गया कि हृदय अपने-आप में निरर्थक होता है, इसको शरीर की भी आवश्यकता होती है।

इस प्रकार हम अपने अन्वेषण के अंतिम चरण पर पहुँच जाते हैं, इस अं पर्त को हटा देने से हम मूल तत्त्व तक पहुँच जायेंगे। मानवीय प्रज्ञा यदि आत्मसात् कर भी ले तो उसे व्यक्त करने के लिए शब्द नही मिल पायेंगे। श

का शल्यक्रिया करने के पश्चात भी वैज्ञानिक आत्मा की सत्ता का रहस्य नहीं जान सकता, यह कार्य केवल प्रेमी ही कर सकता है, और प्रेमी उस आत्मा की शल्यक्रिया करना अपराध समझता है यद्यपि वह चाहे तो उसके रहस्य को सुस्पष्ट कर सकता है। इस अंतिम मूल तत्त्व के संबंध में केवल दो वस्तुएँ ही कोई अर्थ रखती हैं। प्रथम तो यह कि कोई ऐसी वस्तु है जिसके विषय में कलाकार स्वयं कुछ नहीं जानता और दूसरा यह कि प्याज का यही एकमात्र ऐसा अंश है जो मूर्त होता है। उसका शेषांश कलाकार की दृष्टि, उसकी कल्पना, और उसकी सौंदर्य-प्रेरणा समझ सकते हैं लेकिन इस केन्द्र पर, जहाँ किसी प्रकार का अवरोध नहीं, केवल उन्हीं उपादानों का आश्रय लेना पड़ता है—तूलिका, रंग, कागज आदि जिन्हें आप बाजार से खरीद सकते हैं। इसी बिंदु पर यह रहस्योद्घाटन होता है कि जीवन का गुह्यतम रहस्य शरीर में, न कि आत्मा में, छिपा रहता है।

यह मर्मस्थल लेखक के अचेतन मस्तिष्क और उसके द्वारा चुने गए माध्यम का एक रासायनिक मिश्रण है। प्रत्येक दूसरे पर परिचालित होता है। चाहे जो विषय लेखक ने चुना हो, चाहे जिस अनुभव से वह प्रेरित हुआ हो, शिल्प का प्रारंभ करते ही उसका चुनाव उसका अपना नहीं रह जाता। उसकी उँगुलियाँ और उसकी तूलिका ऐसे मनोवेगों से चालित होते हैं जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं रहता। यदि उस मर्मस्थल को हम कोई नाम देना चाहें तो उसे 'हस्तलेखन' की संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि यह शब्द बहुत उपयुक्त नहीं है फिर भी यह सही दिशा की ओर संकेत करता है। 'अचेतन मनोवेग' और 'चेतन माध्यम' का यह मिश्रण चित्र पर 'हस्तलेखन' द्वारा वाक्य पर छोड़े गये चिह्नों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और गुह्यतर होता है। यह पूरी कृति में कलाकार के व्यक्तित्व को पिरो देता है। और यह अपने को माध्यम के स्वाभाविक व्यवहार के रूप में प्रकट करता है : जब टिटियन कोई चित्र बनाता है तो अनजाने ही वह 'टिटियनता' और 'रंगता' को घुला रहा होता है। क्योंकि रंग का अपना गुण, अपना स्वभाव होता है जिसे टिटियन नियंत्रित तो कर सकता है लेकिन बदल नहीं सकता और टिटियन की तूलिका ऐसे मनोवेगों से परिचालित होती है जिसे न तो टिटियन और न ही उसका माध्यम धूमिल कर सकता है। चित्रकार सदैव यह कहता है कि वह अपने चित्र में क्या व्यक्त करना चाहता है लेकिन उस चित्र के अंतिम रूप में कुछ ऐसा भी होता है जो अनकहा ही रह जाता है। उसने यह कभी नहीं कहा कि उसकी कलाई किस दिशा में घूमने को, किस शक्ति और स्फूर्ति के साथ, आग्रह कर रही थी। 'आग्रह' गलत शब्द है क्योंकि इससे यह ध्वनि निकलती है कि कठिनाई हटा दी गयी। लेकिन 'हस्तलेखन' की इस समस्या में कोई 'कठिनाई'

अथवा बाधा नहीं होती। चित्रकार के अचेतन मस्तिष्क से तूलिका के अग्रभाग तक का मार्ग बाधारहित होता है। उत्तेजित मनोवेग ईस दूरी को उसी प्रकार तय कर लेते हैं जैसे विद्युत शक्ति ताँबे के तारों में दौड़ती चली जाती है। संभवत इस उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। विद्युत शक्ति कलाकार की आत्मा का मूलतत्व होती है, उसका माध्यम ताँबे का तार बन जाता है जो उस मूलतत्व को अपने ओर खींचता है। इस आकर्षण के साथ मिलकर मूलतत्व कलाकार को एक स्वतंत्र सुगंध प्रदान करता है और उस कलात्मक हस्ताक्षर को नियामित करता है जो कलाकार पूरे फलक पर लिखता है।

प्याज की पर्तों को अब एक दूसरे के संबंध में जाना जा सकता है। ये सभी पर्तें एक अनवरत स्वरानुक्रम की रचना करती है। पर्तों के ऊपर कलाकार की भूमिका एक पर्यवेक्षक की होती है, प्रथम के नीचे वाली पर्त पर वह टिप्पणीकार बन जाता है, दूसरी पर्त के पश्चात् वह व्याख्याता बन जाता है, तीसरे पर वह कल्पना विहारी और अंत में सर्जक बन जाता है। स्वरानुक्रम की प्रत्येक गति के साथ वह मूर्त विश्व को त्यागता जाता है और अपने अदृश्य संसार की खोज मे आगे बढ़ता जाता है। यह खोज पूरी कर लेने के पश्चात् वह इसके लिए एक चाक्षुष प्रतीक की तलाश करता है और यही प्रतीक उसके गुप्त रहस्य का संकेत देता है। जिस प्रकार चीटीखोर की थुथनी भय और कलपुंछ के पाँव गति के प्रतीक होते हैं उसी प्रकार एक गुह्यतर अर्थ में कलाकृति कलाकार की क्षुधा और भय का प्रतीक होती है अर्थात् व्यक्ति के रूप में उसका अंतिम मूर्तीकरण।

सेव के बाह्य रूप के आलेखक के रूप में चित्रकार का कोई वैशिष्ट्य नहीं होता। वह सेव की दया और अपनी दृष्टिशक्ति पर निर्भर रहता है। लेकिन व्यक्ति के रूप में ज्यों ही वह अपने अधिकारों का प्रयोग करना प्रारंभ करता है और एक दृष्टिकोण स्वीकार कर लेता है उसी समय सृजन की ओर पहला पटा-क्षेप कर चुका होता है और तीसरे कदम पर जब वह मूर्त से आगे जाकर अमूर्त हरीतिमा में निमग्न हो जाता है तभी वह सर्जक के गुणों को धारण करना प्रारभ कर देता है। उसी क्षण गणितीय अर्थ में सौंदर्य उसके सृजन में समाने लगता है यद्यपि उसकी गणित प्रकृति की गणित से भिन्न होता है। यद्यपि उसकी इच्छा को उत्तेजित करने के लिए सेव के मूर्त स्वरूप की अपेक्षा थी लेकिन एक बार उसकी इच्छा उत्तेजित हो जाने के पश्चात् उसका (सेव का) मूल्य समाप्त हो जाता है। चित्रित सेव आत्म-निर्भर है क्योंकि उसने अपने गणितीय आधार को पा लिया है। प्रकृति में विद्यमान सेव की भाँति यह भी सुन्दर लगने लगता है क्योंकि यह एक नियम का अनुसरण करता है, लेकिन यहाँ नियम वास्तव में इसके सर्जक की व्यवस्था और समस्वरता की परिकल्पना बन कर आता है। संक्षेप में कलाकार का

दृष्टिकोण इस बात में निहित है कि यही, केवल यही, आकार मेरी इच्छा के अनुरूप है जबकि प्रकृति का दृष्टिकोण रहता है, यही, केवल यही, आकार सार्थक हो पायेगा।

किन शक्तियों ने कलाकार की इच्छाओं को नियमन और दिशा प्रदान की है यह प्रश्न मनोवैज्ञानिकों के लिए है, जैसे कि प्रकृति के संबंध में यही प्रश्न वैज्ञानिक के लिए होता है। दोनों प्रश्नों का अंतिम उत्तर खोज पाना असंभव है। इस बीच कला-समीक्षक, जो कारणों की अपेक्षा प्रभावों से संबद्ध होता है, कला-कृति का विश्लेषण कर सकता है यद्यपि इसका स्रोत अब भी रहस्य में डूबा हुआ है।

और फिर, अंत में प्याज की पर्त-दर-पर्त उधेड़ने के पश्चात् उन्हें पुनः व्यवस्थित करने का प्रश्न आता है, प्याज की उसकी समग्रता पर चिंतन करने का प्रश्न और बेशर्मी से स्वीकार करने का प्रश्न कि यह प्याज कभी था ही नहीं। यह प्याज उसी प्रकार नहीं था जैसे यह रत्नहार नहीं था। यद्यपि इसके पर्तों को एक-एक कर के व्यवस्थित किया गया था लेकिन ये पर्त एक दूसरे से अलग नहीं थे। ऊपरी त्वचा से लेकर मर्मस्थल तक यह एक अबाध संरचना थी, प्रत्येक पर्त ऊपरी त्वचा के वस्तुनिष्ठ वर्णन से आगे अचेतन हस्तलेखन तक की अबाध यात्रा थी। विश्लेषक अपनी वस्तु को तमाम टुकड़ों में बाँट सकता है लेकिन उसे यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अपने पाठकों की सुविधा के लिए मात्र एक अहानिकर प्रपंच रच रहा था। कला को थोपी हुई पर्तों के रूप में उसी प्रकार नहीं परिकल्पित किया जा सकता जिस प्रकार पानी को केवल आक्सीजन और हाइड्रोजन का मिश्रण नहीं माना जा सकता। पर्तों का अस्तित्व केवल सिद्धांत में होता है। कार्यरूप में वे एक दूसरे को इस पूर्णता से बंधे रहती है कि एक कलाकृति पर दृष्टिपात करते समय प्रेक्षक सभी को एक साथ अनुभव करता है और इस प्रकार उनके प्रति अचेत रहता है।

●

माध्यम, मिश्रण, रुचि

पियरो डेला फ्रेंसेस्का का 'जन्मोत्सव' हो अथवा रेम्ब्रां का 'क्रूसारोपण' (प्लेट 3 अ, ब) प्रथम दृष्टि में रंगों का यत्र-तत्र छिड़काव अथवा ताम्र-पत्र पर छेनियों के निशान के अतिरिक्त हमें और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य के स्वप्नों और आकांक्षाओं के साथ कारणों-प्रभाओं की जो श्रृंखला प्रारंभ हुई थी वही रंगों के बिखराव अथवा छेनी के निशानों के रूप में परिणत हो जाती है। कारणों-प्रभाओं की यह श्रृंखला ही कलाकृतियों का जनक होती है और इस श्रृंखला के क्रमिक अध्ययन से ही हम कलाकार के स्वप्नों-आकांक्षाओं तक पहुँच सकते हैं। और यदि यह विश्वास कर लिया जाय कि स्वप्न का जन्म प्रेम से होता है तो फिर हमारा सामना उस विचित्र प्रक्रिया से होता है जिसके द्वारा कलाकार के माध्यम से अपनी इच्छा को प्रगट करने वाला प्रेम अंततः परिमाणीय स्तर पर व्यक्त होता है और चक्षु, नाड़ियों अथवा कर्ण-पटों पर विशुद्ध यांत्रिक ढग से परिचालित होने वाली प्रकाश तरंगों अथवा ध्वनि तरंगों के अनुक्रम के रूप में रूपायित होता है जिसे विशुद्ध गणितीय शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है।

यह प्रक्रिया काफी जानी-पहचानी होती है। वास्तव में दो व्यक्तियो के बीच संवाद स्थापित करने की यही एकमात्र प्रक्रिया है। हम जिस विश्व मे रहते है उसमें प्रवेश करने का एकमात्र साधन हैं हमारी ऐंद्रिक नाड़ियाँ और यह ब्रह्मांड परिमाणीय दोलन के माध्यम से ही उन्हें प्रभावित करता है। प्रेमी प्रेमिका के प्रति अपने आकर्षण की असीम गहनता को इन ध्वनि तरंगों में परिवर्तित करके व्यक्त करता है जिसे प्रेमिका एक बार फिर अपने कर्ण-पट और कर्ण-पट को मस्तिष्क से जोड़ने वाली नाड़ियों के सहारे एक संवेग में बदल देती है। लेकिन जब प्रेमी कहता है, "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ" तो वह ध्वनि-तरंगों के एक अपेक्षाकृत सरल अनुक्रम को पैदा कर रहा होता हैं। सफेद कागज पर बेतरतीबी से फैली हुई स्याही के माध्यम से जब रेम्ब्रां अपनी बात कहता है तब वह प्रकाश-तरगों के एक अपेक्षाकृत अधिक उलझे हुए अनुक्रम को जन्म दे देता है।

'माध्यम' शब्द जो कलाकृति के अंतिम पार्थिव तत्त्व की ओर संकेत करता है एक बहुत आसान लेकिन साथ ही बहुत ही उलझा हुआ शब्द है। यह सच है

कि यह पार्थिव तत्त्व कलाकार के निजी स्वप्न और हमारे द्वारा उस स्वप्न को ग्रहण करने के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह कलाकार के उस स्वप्न को उसकी समग्रता में प्रदर्शित कर देता है। कलाकार के हस्त संचालन को उसकी सृजन-प्रतिभा से निकलने वाली अनेको आज्ञाओं के अनुक्रम के परिणाम के रूप में देखना 'तकनीक' अथवा 'कौशल' जैसे शब्दों के अतिसरलीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

यह सच है कि उकेरने वाली सुई उन आज्ञाओं द्वारा परिचालित होती है लेकिन इसी बीच वह सुई भी अनेकों संदेश मस्तिष्क की ओर प्रवाहित कर देती है। माध्यम का अपना स्वाभाविक व्यवहार एवं प्रकृति होती है जिसे कलाकार के लिए समझना आवश्यक होता है। माध्यम की इच्छा को ध्यान में रखना रचना कौशल का रहस्य होता है। रचना कौशल माध्यम की इच्छा को अपनी इच्छा के अनुकूल बनाकर उसका समाहार करने में निहित होता है। जिस प्रकार जापानी पहलवान अपने प्रतिद्वंद्वी की चालों का लाभ उठाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार कलाकार माध्यम की इच्छा का अपनी इच्छा के साथ समीकरण कर लेता है।

ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि सुई की नोक से उठकर उसके मस्तिष्क की ओर जाने वाले संदेशों के प्रति वह सचेत रहे। इन संदेशो के आवागमन के कारण कलाकार के मस्तिष्क में निरंतर गोष्ठियाँ चलती रहती हैं—अर्थात् अमुक रेखा कैसी होनी चाहिये, सुई के नोक को अमुक स्थान पर कठोर अथवा हल्का पड़ना चाहिये, चित्र निर्माण के अमुक क्षण में अमुक दिशा मे परिवर्तन होना चाहिये आदि, आदि।

जहाँ तक रेम्ब्राँ के 'क्रूसारोपण' के अम्ल लेखन का संबंध है सौभाग्य से हम यह जानने की स्थिति में हैं कि उसका अभिप्राय किस प्रकार परिवर्तित होकर तश्तरी पर साकार हुआ। उसके इस चित्र में विस्तार की प्रक्रिया के साथ-साथ पुनरावृत्ति और महत्वपूर्ण परिवर्तनों के लक्षण भी स्पष्ट है। अम्ल लेखन के समय घटित होने वाली विभिन्न मनोदशाओं की तुलना से यह भी ज्ञात हो जाता है कि कौन से परिवर्तन माध्यम की संभावनाओं के कारण संभव हुए और कौन से उसकी स्वयं की विषय के प्रति गहराती हुई अवधारणा के कारण।

माध्यम कलाकार के समक्ष अपनी शर्तें रखता है। और इस प्रकार कलाकार के विषय में हमारी यह कल्पना कि वह एक स्वप्नदर्शी व्यक्ति होता है जो अपने स्वप्नों को चाक्षुष बिंबों में उजागर कर देता है गलत होगी। उजागर होने की प्रक्रिया में स्वप्न स्वयं भी परिवर्तित हो जाता है। लेकिन इस परिवर्तन की

परिभाषा नही की जा सकती है। मानस बिंब और उसके चाक्षुप स्वरूप में संबंध होता है लेकिन दोनों की तुलना नही की जा सकती क्योंकि यद्यपि कलाकार अपने स्वप्नों को जानता है लेकिन हमारे लिए उनका मूल्य इसलिए नहीं है कि संप्रेषण हो जाने पर उनका बुनियादी रूप बदल चुका होता है और हमारे लिए यही बदला हुआ रूप कलाकृतिक के रूप में हमारे समक्ष आता है। वह शब्दों के द्वारा यह तो बता सकता है कि अपने स्वप्नों को चाक्षुष रूप देने में वह क्यों असफल रहा लेकिन उसके शब्द रूपान्तर का ही दूसरा स्वरूप होंगे। हम उसके असली अदरूनी जीवन से कट जाते हैं क्योंकि वह एक ऐसा व्यक्ति है जो दूसरे व्यक्तियो से संवाद की स्थित्ति में होने के लिए उनकी ऐंद्रिक नाड़ियों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। कलाकार हमारे ऊपर केवल इतना विश्वास कर सकता है कि हमारी ऐंद्रिक नाड़ियों द्वारा हमारे मस्तिष्कों को भेजे गये संवाद सृजन के क्षण में उसकी ऐंद्रिक नाड़ियों द्वारा उसके मस्तिष्क को भेजे गये संवादों के समान ही होंगे। दूरभाष के अधिग्राही छोर पर बैठे हुए, केवल दूरभाष द्वारा ही अन्य व्यक्तियों के साथ संवाद कर सकने वाले अभिशप्त लोगों के समान हम भी अभिशप्त है। दूरभाष में आते हुए शोर की तुलना मानवीय संभाषण से हम नहीं कर सकते क्योंकि मानवीय संभाषण के विषय में हम कुछ भी नही जानते।

यह एक शास्त्रीय समस्या है जो दार्शनिक के काम की तो हो सकती है लेकिन कला-समीक्षक के लिए नहीं। कला-समीक्षक का वास्ता बोले गये शब्दों से न होकर उसके द्वारा सुने गये शब्दों से होता है। और उसकी समस्या का आधा आनंद एक टेलीफोन की तुलना दूसरे टेलीफोन से करने में निहित होता है और आधा दूसरी ओर दूर बैठे हुए ग्राहक के बारे मे अटकलबाजियाँ लगाने में।........

कुछ कलाकार ऐसे होते है जिनकी कृतियों को देखकर यह आसानी से जाना जा सकता है कि वे अपने माध्यम का पूरा 'शोपण' कर पाये हैं कि नहीं। कोई आवश्यक नहीं कि वे महान् ही हों लेकिन कम कुशल अथवा चतुर कलाकारो से वे इस बात में भिन्न होते हैं कि वे माध्यम द्वारा उनके मस्तिष्कों को भेजे गये संवादों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील एवं आज्ञाकारी होते हैं। यदि वे महान् कलाकार हुए तो परिणाम होगा माध्यम के व्यवहार और सृजन आकांक्षा का एक भव्य सहयोग। कमजोर सृजन-शक्ति अथवा घटिया कल्पनाशक्ति के बावजूद जब इनका संचालन उत्कृष्टता से किया जाता है तो संचालन के हाथों कल्पनाशक्ति के इस पराजय के लिए 'निपुणता' (चालाकी) शब्द का आविष्कार किया गया है। ये दोनो अनिवार्य स्थितियाँ हैं और इनके बीच ऐसे कलाकार हैं जिनके तकनीकी कौशल

को देखकर यह संदेह होने लगता है कि उनकी तूलिका से उनके मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होने वाले संदेश विपरीत स्थिति वाले संदेशों से ज्यादा महत्व-पूर्ण हैं।

यद्यपि सामान्यतया यह अनुमान लगाना संभव है कि कलाकार अपने माध्यम के प्रति कितना संवेदनशील रहा है, किस सीमा तक उसने इसकी संभावनाओं का 'शोषण' किया है और किस सीमा तक इन्हें नजरअंदाज किया है, फिर भी वह पूर्णरूप से इनसे कट नहीं सकता है क्योंकि पारिभाषिक रूप से वह ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने आपको एक विशिष्ट माध्यम के द्वारा व्यक्त किया है। और अन्य माध्यमों को छोड़कर उस विशिष्ट माध्यम को ग्रहण करने के पीछे केवल यही कारण हो सकता है कि वही माध्यम उसके उद्देश्य के लिये अपेक्षाकृत अधिक सक्षम रहा होगा। यह पता लगाना मनोवैज्ञानिक का कार्य है कि संगीतज्ञ के लिए स्वर, चित्रकार के लिए रंग द्रव्य और नर्तक के लिए गति क्यों उपयुक्त है। समीक्षक का कार्य यह स्पष्ट करने में है कि अभिव्यक्ति के किसी विशिष्ट ढंग ने व्यक्त की गयी वस्तु के मूलतत्व अथवा उसकी विशिष्टता तक को कैसे बदल दिया है।

चाक्षुष कलाओं के माध्यमों के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विशुद्ध रूप से तकनीकी आविष्कारों का जन्म महज संयोग से नही हुआ है। उदाहरण के लिए तैलचित्रों की पद्धति का विकास चौदहवीं सदी के बाद प्रारंभ हुआ फिर भी रंग द्रव्यों को तेल के साथ मिश्रित कर देने के अतिरिक्त माध्यम में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किया गया। यदि चौदहवीं सदी के पहले यह आविष्कार नहीं किया गया तो केवल इसलिये कि इसकी आवश्यकता नही महसूस की गयी थी। इसका आविष्कार केवल आविष्कार के लिए न होकर एक उपस्थित आवश्यकता की पूर्ति के लिये किया गया था, ठीक वैसे ही जैसे परिप्रेक्ष्य के नियमों का आविष्कार सत्यान्वेषण में लगे हुए वैज्ञानिकों द्वारा न होकर दृश्य प्रपंच से पूर्ण विश्व के साथ संघर्षरत कलाकारों के द्वारा किया गया था। जब तक कलाकारों का ध्यान प्रमुख रूप से परिरेखा और संरचना पर केंद्रित रहा तब तक भित्तिचित्र और डिस्टेंपर बिल्कुल ठीक थे लेकिन जैसे ही वह परिरेखा से आवेष्टित धरातल और संरचना के ऊपर होने वाली प्रकाश-क्रीड़ा के प्रति सचेष्ट हुआ वे सारे माध्यम उसके लिए बेकार हो गये।

फिर भी परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ। नये माध्यम में चित्रित पहला चित्र था जियोवेनी बेलीनी का 'मेडोना आफ सेंट जॉब' (4) जो 1480 के लगभग प्रकाश में आया। यह एक संक्रांतिकालीन चित्र है लेकिन यह सच है कि सन् 1500 के

पश्चात् चित्रित किसी भी चित्र में तेल के प्रयोग का सहारा शायद ही न लिया गया हो। टिटियन के 'आरियास्टो' (5) को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार कलाकार की तन्मयता में परिवर्तन हुआ है। लहराता हुआ धरातल स्मृति में ही रहता है। इसका स्वरूप कोई अर्थ नहीं रखता। टिटियन के प्रारंभिक भित्तिचित्रों में असमंजस का भाव स्पष्ट है। इसका कारण यह नही कि टिटियन भित्तिचित्रों की प्रचलित शैली का उपयोग निपुणता से नहीं कर सकता था। बल्कि तथ्य यह है कि भित्तिचित्रों की संभावनाओं का टिटियन के अभिप्रायों से मेल नहीं खाया। टिटियन के हाथों इसमे वह सार्थकता नही आ सकती थी जो रेफेल के लिये संभव रही होगी।

महत्वपूर्ण परंतु अनुत्तरित प्रश्न यह है कि किस सीमा तक माध्यम कलाकार के भीतर नये अभिप्रायों को प्रगट कर सकता है अथवा किस सीमा तक यह कलाकार के भीतर सोये हुये अथवा अर्द्ध जागृत अभिप्रायों को उत्तेजित कर सकता है। यह निश्चित है कि तैलचित्रों की उपयोगिता एवं अपने द्वारा उनके सरल प्रयोग को वेलेनी ज्यों-ज्यों अधिक जानता गया है त्यों-त्यों उसके चित्रों में अधिकाधिक निखार आता गया है लेकिन जब उसका यह नया प्रयोग उसके तकनीकी कौशल का एक अंग बन गया तो उसके आगे वह नहीं जा सका। टिटियन के साथ ऐसा नहीं है। वह आजीवन तैल-चित्रांकन की संभावनाओं को लेकर प्रयोग करता रहा। इस दिशा में उसका सर्वाधिक परिष्कृत चित्र है 'क्राइस्ट क्राउंड विद थार्न्स' (6) जो 1750 में उसने तैयार किया। तकनीकी दृष्टि से नये-नये प्रयोग करने वाले कलाकारों में नये माध्यमों को लेकर व्यापक स्तर पर प्रयोग करने की मौलिकता का प्रायः अभाव रहा है लेकिन उनके अनुगामियों ने उस नये माध्यम को लेकर कीर्तिमान स्थापित किये और परिवर्तन को रचनात्मक दिशा देने में समर्थ रहे।

लेकिन विचित्र बात यह रही है कि एक बार परिवर्तन हो जाने और कलाकार की कल्पनाशक्ति के नये माध्यम के प्रभाव में ढल जाने के पश्चात् कोई भी माध्यम उसके लिए सरल हो जाता है। उदाहरण के लिए यह माना जा सकता है कि धरातल पर प्रकाश-क्रीड़ा को चित्रित करने के लिए कलम और स्याही से कोई भी माध्यम कम प्रभावी नहीं होता और सभी माध्यमों में से मूर्तिकला इसे अभिव्यक्त करने से नहीं बच सकती। लेकिन लियोनार्दो के किसी भी रेखाचित्र की तुलना रेम्ब्राँ के रेखाचित्र से करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार रेम्ब्राँ का रेखाचित्र सुनिश्चित रूप से परिरेखा की ओर ध्यान नही खींचता और उसका रेखांकन कभी भी स्पष्ट नहीं होने पाता। उसके रेखाचित्र में प्रयुक्त
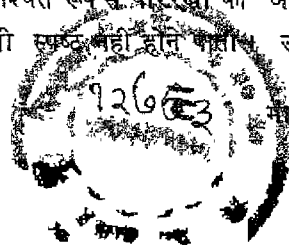
सुस्पष्ट रेखा का कोई प्राकृतिक प्रतिद्वंदी नहीं लगभग समान चित्र के पृष्ठभाग पर रेखाओं का समानांतर अंकन परिरेखन न होकर उस कोण की ओर संकेत करता है जिधर वह आकार चकित होकर झुक जाता है (7 अ)। लियोनार्दो के चित्र (7 ब) में वर्जिन के पृष्ठभाग पर अंकित समानांतर रेखायें आकार की व्याख्या करती है और इस प्रकार वे मूलतः परिरेखन के सदृश हैं। दोनातेलो, यद्यपि वह धरातल से सम्बद्ध कला-माध्यम का प्रयोग करता है, किसी प्रकार वस्त्रों के पर्तों की रेखाओं, अथवा ओठ, नाक एवं गालों की हड्डियो की रेखाओं की ओर हमारा ध्यान खींच लेता है (8)। बेरेनी इन पंक्तियों को तोड देता है और उनका अनुसरण करने वाली आँखों को पराजित कर देता है, केश गुच्छों की आड़ में परिरेखन को छिपा देता है और लहराते हुए वस्त्रों की आड में धातु-स्कंधों के कठोर प्रवाह को धूमिल कर देता है।

यहाँ उद्देश्य यह दिखाना नहीं कि माध्यम कलाकार की कल्पनाशक्ति को किस प्रकार प्रभावित करता है अपितु यह कि किस प्रकार आज्ञा और अभ्यर्थना, विजय और पराजय की यह दोतरफा यात्रा कलाकार की आत्मा और उसके हाथों के बीच परिचालित होती रहती है। किसी कलाकृति के मूल स्रोत का विश्लेषण करते समय हमारा सामना विभिन्न शक्तियों के बीच संतुलन के इस महत्वपूर्ण तथ्य से बराबर होता है।

माध्यम संबंधी धारणा के किंचित् स्पष्ट विवेचन के लिए एक उदाहरण आवश्यक है। यहाँ हम सोलहवीं सदी में चित्रित वेरोनीज की 'मिस्टिकल मैरेज आफ सेण्ट केथेराइन' (15) का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

इस चित्र का बाह्य आकार सरल है। यह चित्र सोलहवीं सदी की एक लोकप्रिय पुराणकथा पर आधारित है और इस प्रकार चित्र के स्थूल विषय को चुनने का प्रश्न कलाकार के सामने नहीं था। सेण्ट केथेराइन से संबंधित धार्मिक विश्वास की व्याख्या करना हमारे प्याज की व्याख्या न होकर उस खेत की व्याख्या होगी जहाँ वह प्याज उगा था। एक महिला समकालीन दृष्टि से कीमती वस्त्र पहने हुए, सजी हुई सीढ़ियों पर चढ़ती हुई, गोद में शिशु ईसु को लिये हुए वर्जिन मेरी की ओर बढ़ती है। शिशु महिला की अंगुलियों मे अंगूठी पहना देता है। इस महिला के साथ तीन सेविकायें भी हैं, जिनमें से दो इस क्रिया को देखती हैं और तीसरी देवात्माओं से भरे हुए आकाश की ओर देखती है जहाँ से दो देवपुत्र मुकुट लेकर पृथ्वी की ओर आते हुए दिखाई पड़ते हैं। कुछ देवात्मायें वर्जिन की सेवा में लगी हुई हैं। दो धारीदार खम्भे वास्तुकला की पृष्ठभूमि की पूर्ति करते हैं। कलाकार के वर्णन और उसकी व्याख्या में यह

अंतर उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम चित्र को शब्दबद्ध करने का प्रयास करते हैं। भव्य वस्त्र योजना, सजी हुई सीढ़ियाँ और धारीदार स्तंभ व्याख्या का काम करते हैं। चित्र में एक समृद्धि है जो विषय को चुनौती देती है। ऐसा लगता है कि वेरोनीज रहस्यात्मकता के सभी चिह्नों को समाप्त करने के लिए जूझ रहा था। सारा प्रभाव किसी भव्य सामाजिक अनुष्ठान जैसा लगता है। वह युग था जब योरोपीय पुनर्जागरण की रहस्यात्मकता भौतिकता के सामने लाचार बनती जा रही थी। महिला द्वारा सांसारिक पद्धति के पूर्ण परित्याग का अर्थ निरस्त हो जाता है और इसका कारण था भौतिक जगत् को प्रस्तुत करने में वेरानीज का अपूर्व कौशल और दूसरा कारण था भौतिक भव्यता के प्रति उसका आकर्षण, किसी धार्मिक विषय के गहनतर अर्थों की ओर संकेत करने में उसकी असफलता। अपनी सांसारिकता के बावजूद टिटियन में ऐसी कोई दुविधा नहीं थी। टिटियन और टिंटोरेटो में मानवीय प्रज्ञा की एक ऐसी गहराई विद्यमान है जो उनकी सांसारिकता से टकराती है लेकिन अंततः वही विजयी होती है। वेरानीज में इस द्वंद के लिए कोई स्थान नही। वह अंशतः काल प्रज्ञा का शिकार है और अंशतः इसका सर्जक भी। उसके समय तक पुनर्जागरण की पराकाष्ठा समाप्त हो चुकी थी और वेरानीज में इसका पराभव स्पष्ट है। इस प्रकार उसका चित्र दैवी विवाह का प्रस्तुतीकरण न होकर वेनिस के किसी समृद्ध विवाहोत्सव का चित्र है। यह चित्र एक ऐसे बदलाव की ओर सकेत करता है जब मध्यकालीन आध्यात्मिक स्वर धीमे पड़ने लगे थे और इस प्रकार उनके स्थान को भरने का प्रयास संभव बन गया था।

लेकिन वेरानीज के इस चित्र का महत्व इस कारण कम नही हो जाता कि वह सांसारिकता से अनुप्राणित है। ऐसा मानना वैसे ही मूर्खता होगी जैसे एक राजभवन की निंदा इसलिये करने में क्योंकि वह मंदिर नहीं है। मंदिर की अवधारणा में अक्षम, राजभवन की रचना में वेरानीज का कोई मुकाबला नही कर सकता।

और इस बिंदु पर हम दूसरी पर्त अर्थात् व्याख्या की पर्त पर पहुँच जाते हैं। विषय पर उसकी टिप्पणी निरर्थक है लेकिन जीवन की उसकी व्याख्या अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। भव्य समृद्धि, अलंकृत शोभा और मानवसभ्यता की प्रतिष्ठा का इतना प्रखर चित्रण शायद ही कहीं मिले। संयम का पूर्ण तिरोभाव है लेकिन पतनोन्मुखता का कोई लक्षण नहीं। यह पूर्ण संतुलन का चित्र है।.........सभ्यता के उत्थान-पतन के क्रम में प्रत्येक काल का एक नियत स्थान होता है और इसकी अपनी संभावनाएँ और मूल्य होते हैं। प्रत्येक कलाकार अपने युग के मूल्यों को

उकेरता है और वेरानीज इस दृष्टि से एक उत्कृष्ट कलाकार है। उसके युग के मूल्यों का पता उसके चित्रों को देखकर ही लग सकता है और बिरले ही कलाकार ऐसे होते हैं जो अपने युग से एक क्षण भी पहले या बाद में नहीं पैदा होते। उनका आत्मविश्वास ही उनकी रचना को सफल बनाता है।

चित्रकला में वेरानीज की सांसारिकता अनूठी है। स्वस्थ और सामान्य होते हुए भी उसमें एक चमक और मोहकता है। विस्तृत स्तर पर सुसज्जित भव्य स्थापत्य उसके चित्रों को दबा नहीं पाता और न ही कीमती वस्त्र-विधान उन्हें मद कर पाता है। चित्र में विवेक और भव्यता का अनुपम सामंजस्य है। चित्र मे कहीं भी नाटकीयता नही है और नाटकीयता के अभाव के बावजूद और उसके कारण भी वह अपनी भावदशा को व्यक्त करने में सफल हो गया है, एक ऐसी भावदशा जो जीवन के धरातल के प्रति मनुष्य की पूर्ण संतुष्टि का बोधक ह। जीवन से उसमें इतना लगाव है कि उसके चित्रों में एक प्रकार की वैयक्तिकता आ गयी है। उनकी विस्तृत सज्जा शोभा को समर्पित स्तुति का आभास देती है। वे चार देवदूत जो सीढ़ी के बायें ओर संगीत रच रहे हैं अनुष्ठान की सामाजिक प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। दोनों गायक अपने गीतों को ध्यानमग्न होकर पढ़ रहे है। उनके पंख अतीत के चिह्न हैं और वेरानीज उन्हें छिपाने की भरसक कोशिश भी करता है। ऐसे कलाकार तथाकथित गंभीर कलाकारों की अपेक्षा इस बात में लाभप्रद स्थिति में रहते हैं कि उनकी कृतियों में समन्वय और विस्तार होता है। उनके लिए कुछ भी असंगत अथवा कम महत्वपूर्ण नहीं होता और इसीलिये प्रत्येक वस्तु अंतिम प्रभाव मे अपना योगदान देती हैं। वेरानीज के लिए जीवन-दृश्य बादलों, स्तंभों, वस्त्रों और मोतियों का एक संयोजन है और ये नागरिकों अथवा देवदूतों के साथ एकमेव हो जाते हैं।

वेरानीज वास्तव में उस रंगकर्मी की भांति है जो दृश्यों-वस्त्रों को नाटक का अंग मानता है। यह वेनिस कला का एक प्रमुख लक्षण था। वेरानीज जिस प्रकार अपने संसार को महसूस करता था उसी प्रकार उसे देखता भी था लेकिन ऐसा करते समय वह अपने युग से बंधा हुआ-सा नहीं लगता है। सामान्यत: देखी गयी वस्तु से उसे देखने की प्रक्रिया को अलग नहीं किया जा सकता, खासतौर से तब जब चित्र में समसामयिक जीवन का समावेश हो। समकालिक रंग के प्रति वह टिटियन और टिंटोरेटो से अधिक आग्रहशील था और इसी कारण उसके चित्रों में एक विशिष्टता है। एक ऐसे युग में जब चित्रांकन की शैली तेजी से विस्तार ग्रहण कर रही थी और उसमें व्यक्ति वैचित्र्य का प्रभाव बढ़ रहा था, वेरानीज अर्द्धशताब्दी पूर्व की शैली से चिपका रहा। जब कोई चित्रकार पुरानी

शैली का उपयोग करता है तो यह उसकी रूढ़िवादिता का द्योतक होती है—इसका तात्पर्य यह कभी नहीं होता कि उसने अपनी समकालिक शैली को जान-बूझकर त्यागा है। कलाकार मात्र वही देखता है जो वह देखना चाहता है और वह वही देखना चाहता है जिसे वह प्यार करता है। वेरानीज भौतिक उपकरणों की भव्यता से प्रभावित है और उसके चित्र में केथेराइन के फैले हुए हाथों के नीचे उसकी आँखें वस्त्रों की परतों को देखना नहीं भूलतीं जिन्हें टिंटोरेटो ने कोई स्थान न दिया होता। टिंटोरेटो का छाया प्रेम (प्लेट 12) वेरानीज में नहीं मिल सकता।

उसकी गहराई की सयोजना भी अतीत की ही है। चित्र के भीतर और बाहर टिंटोरटो द्वारा चित्रित साहसिक गतियाँ वेरानीज के लिए कोई अर्थ नही रखतीं, और महत्वपूर्ण बात यह है कि वेरानीज के समय मे टिंटोरेटो वाली प्रणाली बहुत ही लोकप्रिय थी। सभी कलाकार किसी न किसी सीमा तक रग-कर्मी होते हैं; वे अपने चित्रों में अनेकों तत्वों का संमिश्रण कुछ इस प्रकार करते है ताकि वह प्रेक्षक पर अधिक से अधिक प्रभाव डाल सके। टिंटोरेटो ने अपने को रंगमंच पर खड़ा कर लिया था और इस प्रकार चित्रांकन शैली में एक क्रांति लाने में सफल हुआ। वह प्रेक्षकों को भी अपने साथ ही रंगमंच पर खड़ा कर देता है और इस प्रकार प्रेक्षक भी अभिनेताओं में शामिल हो जाते हैं, फिर पाद-प्रकाश गायब हो जाते हैं और इसके साथ ही प्रेक्षक का यह भाव भी कि वह चित्र देख रहा है—वह भाव जिसके द्वारा वह उस संसार से कट जाता है जिसे वह देख रहा होता है। लेकिन चित्र शैली की इस क्रांति ने वेरानीज को तनिक भी प्रभावित नहीं किया। चूंकि भव्य समारोह उसका विषय था अत: उसके लिए यह आवश्यक था कि वह उस आवरण को कायम रखे जो अभिनेताओं को प्रेक्षकों से अलग करता है। चित्र का अनुक्रम इस प्रकार एक ओर होना चाहिये और जो भी गति हो उसे फलक के आरपार होना चाहिये, न कि इसके भीतर।

वेरानीज की प्रकृति का विश्लेषण करते समय हम अनजाने ही उसके रूप-रेखा की प्रवृत्ति के परीक्षण में संसक्त हो जाते हैं और यह प्याज की विभिन्न पर्तों के अंतर्वेधन को सर्वाधिक स्पष्ट कर देती है। कलाकार की जीवनदृष्टि और उसकी सौन्दर्यदृष्टि के बीच कोई आकस्मिक संतरण बिंदु नहीं होता। फिर भी उसका चित्रांकन ही जीवन के प्रति उसकी दृष्टि को अभिव्यक्त करने का साधन है लेकिन इसमें इससे अधिक और कुछ होता है। 'और अधिक' से यहां तात्पर्य है उस चाक्षुष सौन्दर्य से जिसकी व्याख्या करना और कलाकृति

में समाविष्ट अन्य मूल्यों से इसे विभेदित करना हमारा उद्देश्य है। यह सच हो सकता है कि जीवनदृष्टि और सौन्दर्यदृष्टि के बीच कोई संक्रमण नहीं होता लेकिन उस बिन्दु तक पहुँचना संभव है जहाँ से यह मालूम हो सके कि परिवर्तन हुआ है। कला समीक्षक देर-सवेर गणितीय शब्दावली का प्रयोग करेगा ही यद्यपि इसका प्रारंभ होते ही पाठक सुस्त पड़ने लगता है। पाठक इस शब्दावली को समझ सकता है लेकिन उसका आनंद नहीं उठा सकता। चक्षु और मस्तिष्क के बीच व्यवधान-सा पड़ने लगता है। 'अनुलंब' अथवा 'विकर्ण' जैसे शब्द हालांकि उसके अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि समीक्षक जैसे ही कलाकृति के गणितीय आधार का विश्लेषण करना प्रारंभ करता है उसकी शैली उबाऊ बनने लगती है। यदि कोई ऐसी प्रक्रिया पैदा हो सकती जिसके द्वारा गणित प्रेम को जागृत कर पाता तो समस्या आसान हो जाती। प्रकृति-सौन्दर्य के संबंध में ऐसी समस्या नहीं पैदा होती। निश्चित ही दोनों का आधार व्यवस्थित और विधि-पालक व्यवहार होता है लेकिन चूंकि देवदार वन को पैदा करने वाले प्राकृतिक नियम सत्य, अपरिवर्तनीय और सार्वभौमिक होते हैं अत: उनकी समीक्षा की अवधारणा का प्रश्न न तो पैदा ही होता है और न हो ही सकता है। लेकिन किसी गिरजाघर के कारणभूत नियम, जो मानव-वरीयता पर आधृत होते हैं, की समीक्षा इसी वरीयता के संदर्भ में ही हो सकती है। यदि तेरहवीं सदी अनुलंबी रेखाओं से आसक्त थी तो हम बीसवी सदी वाले उसकी कला की सुन्दरता का तभी अनुमान लगा सकते हैं जब उसकी आसक्ति में हमारा भी हिस्सा हो और ऐसा करना मुश्किल नहीं क्योंकि प्रेम संक्रामक और संकुचित दोनों होता है। कलाकार की उत्सुकता को हम पकड़ सकते हैं लेकिन प्राकृतिक सौन्दर्य के पीछे चूंकि ऐसी कोई उत्सुकता होती ही नहीं अतः उसे पकड़ने का प्रश्न ही नही उठता। संक्रामकता के द्वारा लेखक के अभिप्राय को पकड़ लेना एक बात है और उसके माध्यम से शब्दों में इसका रूपांतरण बिल्कुल दूसरी बात। इस प्रकार लेखक या तो वेरानीज के शुद्ध वास्तुकला का संवेगात्मक समरूपक पैदा करने के लिए कोई कविता लिखे या फिर उसके चित्र का एक नीरस विश्लेषण करे जिसका एकमात्र गुण यह संकेत करना होगा कि किस प्रकार वेरानीज का वास्तुकलात्मक मुहावरा दूसरे कलाकारों के मुहावरों से भिन्न है। वेरानीज का मुहावरा निश्चित रूप से ही क्रांतिकारी नहीं है। वेरानीज किसी शैली का जनक नहीं था लेकिन प्रचलित शैलियों को और आगे ले जाने की अभूतपूर्व क्षमता उसमें अवश्य थी। उदाहरण के लिए हम विकर्णता को ले सकते हैं। विकर्णता का प्रयोग सममिति की धारणा का परिणाम था। सममिति का परिणाम थी 15वीं सदी की पिरामिडीय शैली। टिटियन का 'पिसेरो मेंडोना' (14) पिरामिडीय शैली के खिलाफ

पहला विद्रोह था और वरानीज के चित्र का आदर्श भी यही चित्र था टिटियन के चित्र के प्रायः सभी तत्त्व वेरानीज में मौजूद है—उच्चासन पर विराजमान मेडोना, बायें ओर से दायें और ऊपर उठती हुई सीढ़ियाँ, सीढ़ियों पर बढ़ती हुई आकृतियाँ, नये विकर्ण के नीचे के कोने को भरती हुई आकृतियाँ, दो स्तंभ, खुला हुआ आकाश और आकाश में तरंगायित देवदूत। लेकिन असममित आकार में वेरानीज का विश्वास भी साथ ही स्पष्ट है। फिर भी टिटियन के इस चित्र के अभाव में वेरानीज का चित्र शायद ही बन पाता। इस चित्र को देखकर ही वह इसकी सीमाओं से आगे जाने का साहस कर पाया। टिटियन के चित्र की विकर्ण गति वर्जिन के मस्तक पर समाप्त होती है और सेंट फ्रंसिस के हाथो की ओर तिरोहित हो जाती है। वेरानीज के चित्र में भी इसी प्रकार देवकन्या की बाँसुरी और गायन में निमग्न देवकन्याओं के पंखों और हाथों की ओर एक रेखा तिरोहोती है लेकिन यह एक गौड़ तत्त्व है। चित्र की प्रधान गति मेडोना के ऊपर उड़ने वाली देवकन्याओं द्वारा ऊपर ले जायी जाती है, फिर स्तंभों में लिपटे हुए वस्त्रों द्वारा और अंत में चित्र के एक किनारे चमकते हुए आकाश के छोटे त्रिकोण में यह गति समाप्त हो जाती है।

चित्र की योजना का विस्तृत विवरण यहाँ आवश्यक नहीं लेकिन यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि टिटियन द्वारा सममिति शैली के खिलाफ जो विद्रोह प्रारंभ किया गया था वह किस प्रकार वेरानीज से होता हुआ रुबेन्स के 'डिसेंट फ्राम द क्रास' (16) में पूर्ण हुआ। इस क्रम में वेरानीज संक्रमण की स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् न तो वह पूर्णतया पुरानी शैली को स्वीकार ही करता है और न ही उसका पूर्ण परित्याग ही। चित्र में रेखाओं का महत्त्व है लेकिन एक सीमा तक ही। सौन्दर्य-मूलक योग में संरचना अथवा पैटर्न एक महत्त्वपूर्ण संघटक होता है और वेरानीज के चित्र के पूर्ण प्रभाव में इस संरचना का अत्यधिक महत्त्व है। एक पैटर्न के रूप में चित्र में एक असाधारण और मोहक गहनता है। यही नहीं कि आकृतियाँ एक दूसरे से सिमटी हुई हैं अपितु प्रत्येक आकृति का अपना अलग पैटर्न है। चित्र के धरातल के ऊपर नृत्यरत बूंदे सटी हुई और छोटी हैं और उनका संगीत अत्यंत ही कोमल है। उन्हें कहीं भी उत्तेजित नहीं किया जाता लेकिन साथ ही उन्हें अदृश्य भी नहीं होने दिया जाता। धारीदार स्तंभ और सजी हुई सीढ़ियाँ विस्तृत वास्तुशिल्प के प्रति उसके मोह का संकेत करते हैं। टिटियन के **'पेसेरो मेडोना'** में स्तंभ और सीढ़ियाँ चिकने हैं, आकाश में कोई पैटर्न नहीं और वस्त्रों पर उलने पर्त भी नहीं है। वेरानीज का चित्र रीम्स के चर्च के चित्र (19) के सदृश है। टिटियन वेरानीज से बड़ा कलाकार है लेकिन वेरानीज की संरचना बाद की उ...

माध्यम, मिश्रण,

कृत कम सौम्य आविष्कार है। यह लगभग निश्चित ही था कि वह अधिक भव्यता को अपना लक्ष्य बनाता। लहर उठ चुकी थी। प्रत्येक कलाकार काल-गति में अपना अवदान दे सकता है; केवल अपवाद के क्षणों में ही वह कालगति की दिशा बदल सकता है और 16वीं सदी का उत्तरार्द्ध निश्चित ही ऐसे अपवाद क्षणों के अनुकूल नहीं था।

प्याज की संरचना की व्याख्या करते समय हमने देखा है कि उसका अंतिम गूदा शब्द के परे होता है। उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। सृजन-क्रिया के अमूर्त वर्णन की अपेक्षा सृजन के किसी विशिष्ट अंग पर प्रकाश डालना अपेक्षा-कृत कम संभव है। दर्शक और सर्जक आमने-सामने होते हैं और यदि वे आपस में सहजबोध के आधार पर अपने बीच कोई सेतु कायम नहीं कर सकते तो तीसरे आदमी के लिए ऐसा कर पाना संभव नहीं। दर्शक को सावधान करने के लिए केवल यही एक बात हो सकती है कि प्रतिकृति, वह चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हो, मूल चित्र का स्थान नहीं ले सकती। इसके 'हस्तलेख' का नब्बे प्रतिशत समाप्त हो जाता है।

हमारे सामान्य जीवन में अंतर्वेधन की क्रिया का कोई सममूलक उदाहरण नहीं मिल सकता। पदार्थ जगत् में एक वस्तु के लिए यह संभव है कि वह एक समय एक स्थान पर रहे। किसी कलाकृति में यद्यपि पर्तें होती हैं और सापेक्ष्य स्तर उसी प्रकार होते हैं जैसा पहले बताया जा चुका है फिर भी प्रत्येक पर्त दूसरे पर्तों का अंग होती है और इस प्रकार एक पर्त अन्य पर्तों का पोषण करती है और उन्हें गहन बनाती है। आप एक पर्त हटा दीजिये और दूसरी पर्तें अपनी चमक खो देंगी।

जब 'एब्स्ट्रैक्ट' कलाकार अंतिम पर्तों पर अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए ऊपरी पर्त को हटा देता है तब उसे अपेक्षाकृत छोटे प्याज से ही संतुष्ट होना पड़ता है। लेकिन वह यह नहीं जान पाता है कि प्याज का छोटा होना उसकी कृति के महत्व को भी छोटा बना देती है। पारस्परिक समुच्चय प्रभाव जिसके द्वारा दृश्य जगत् का स्वरूप कलाकार के संयोजन-बोध को समृद्ध बनाता है और फिर इस संयोजन बोध के द्वारा भौतिक जगत् का उसका बोध उत्तेजित होता है उसी क्षण समाप्त हो जाता है जैसे ही कलाकार किसी अंश को उसके मूल अधिकार से वंचित करता है। ट्रैजेडी अथवा परमानंद के दृश्यों को चित्रित करने में वेरा-नीज की असमर्थता इस बात का साक्ष्य है। लेकिन जब कलाकार जानबूझकर अपने को सीमित कर लेता है तो वह जोखिम उठाकर ही ऐसा करता है।

जब प्याज की एक पत अन्य पत्तों की कीमत पर विकसित की जाती है तब कला अपरिपक्व अथवा हेय हो जाती है। 'एब्स्ट्रैक्ट' चित्रकारों का यही सबसे बडा दोष है। ऐसे कलाकारों की संख्या जिन्होंने प्रत्येक स्तर पर अपने को विकसित किया है बहुत कम है। ऐसे ही कलाकारों ने विश्व की महानतम कलाकृतियों का सृजन किया है हालाँकि इसका तात्पर्य यह नहीं होना चाहिये कि वे महानतम प्रतिभा के भी धनी थे। प्रतिभा उतनी दुर्लभ नहीं जितना कि प्राय· मान लिया गया है। लेकिन महान् उपलब्धियों के लिए प्रतिभा ही एकमात्र कारणभूत तत्त्व नहीं होती। प्रतिभा के मुखरित होने के लिए पहली शर्त है सही ऐतिहासिक क्षण और ये क्षण काफी लंबे अंतरालों के पश्चात् आते हैं। और जब ऐसे क्षण आ जाते हैं महान् कलाकार एकाएक पैदा हो जाते हैं। बोतीसिली, माइकेलेंजेलो, लियोनार्डो, रेफेल, टिटियन, जियोवेनी बेलीनी सन् 1510 में जीवित थे और प्रौढ़ भी और ये सभी उत्तरी इटली के रहने वाले थे। इसे मात्र संयोग ही नहीं कहा जा सकता। और इसे भी महज संयोग नहीं कहा जा सकता कि 1680 में कोई महान् कलाकार पूरे योरोप में जीवित नहीं था।

हम इस स्थल पर उन कारणों पर विचार नहीं करेंगे जो सही ऐतिहासिक क्षणों को पैदा करते हैं। कुछ कलाकार ऐसे भी हुए हैं जो प्रतिकूल क्षणों में भी अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ गये हैं। लेकिन सामान्यतः महान् प्रतिभाओं का विकास उनके पर्यावरण के फलदार गुणों पर उतना ही अधिक आश्रित रहा है जितना उनकी अपनी संभावनाओं पर। किसी अन्य शताब्दी में पैदा होने पर वे शायद उन ऊँचाइयों को न छू पाते। लगभग हमेशा ही प्रतिभा के धनी ये व्यक्ति आक्रोश में क्षुब्ध हुए हैं क्योंकि उन सभी के पास वह सहज मानवीयता थी जिसे टालस्टाय ने गलती से महान् कला की कसौटी कहा है। लेकिन भावी पीढ़ी ने ही उनका सच्चा मूल्यांकन कर उनकी महानता को पहचाना है, क्योंकि सृजन-शक्ति तब तक स्पष्ट नहीं हो पाती जब तक अनेक पीढ़ियों ने उन पर मनन कर उन्हें समझ न लिया हो, जब तक वह बदलती रूढ़ियों के भीतर से गुजरकर कसौटी-दर-कसौटी पर शताब्दियों द्वारा चढ़ाई न गयी हो।

अपने समकालीनों के लिए रेफेल का महत्त्व वही नहीं था जो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ और आज बीसवीं सदी में उसके मूल्यांकन में फिर परिवर्तन आया है। लेकिन यह तथ्य कि उसकी कृतियों ने भिन्न रुचियों और प्रतिमानों वाली चार सदियों को समान रूप से संतुष्ट किया। उसकी महानता का सशक्त सबूत है। लेकिन रेफेल सही क्षण की उपज था। सभ्यता की भूमि उतनी उर्वर अथवा वहाँ की जलवायु उतनी अनुकूल कभी नहीं रही जितना कि 1500 और

1510 के बीच रोम की सभ्यता और जलवायु। वनिम की जिस धरती ने वरानीज का पोषण 1500 में किया धीरे-धीरे कमजोर हो रही थी। वेरानीज की कृतियों में संतुलन का किंचित् अभाव, भीतरी पर्तों की कीमत पर ऊपरी पर्तों की किंचित् मांसलता का संभवतः यह भी एक कारण हो सकता है।

वेरानीज के चित्र के विषय में विवाद की गुंजाइश नहीं। उसके लिए 'सुंदर' विशेषण का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है, इसके सारे तत्व इसमें विद्यमान हैं—इसकी स्वस्थ आशावादिता, किसी भी प्रकार के कष्टप्रद, गंभीर अथवा कठिन तत्त्व का इसमें पूर्ण अभाव, इसकी सौम्यता, इसकी समृद्धि और विशुद्ध सौंदर्यपरक दृष्टि से इसकी सरल योजना—ये सारे तत्त्व सामान्य दृष्टि और सामान्य मस्तिष्क के लिए स्पृहणीय हैं। फिर भी जब हम चित्र की तुलना उस प्रकार की यथार्थ अनुभूति से करते हैं तो कितना संतोष मिलता है। अनुभव चित्र से ज्यादा महत्वपूर्ण लगेगा। उस अनुभव में हमें देवकन्याओं का गीत सुनाई पड़ना और चिकने वस्त्रों की सरसराहट सुनाई पड़ती, हमने बहती हुई हवा के स्पर्श को महसूस किया होता, हमारी आँखों को गति और रूप दोनों अपने जादू में बाँध लेते, वर्जिन और भक्त-महिला की बातचीत सुनाई पड़ती। इस प्रकार के बोध और अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत अधिक जटिल और अधिक रुचिकर लगतीं और तब क्या यह नहीं हो सकता कि अनुभव अधिक 'सुंदर' भी लगता? इस प्रश्न का सही उत्तर यह होगा कि अनुभव इसलिये सुंदर लगता क्योंकि यह एक प्रत्यक्ष अनुभव न होकर एक कलाकृति है। इस उत्तर की किंचित् विस्तार में समीक्षा की जानी चाहिये। कलाकृति स्वयंभू होती है। यह चौखटे द्वारा जीवन से कट जाती है और यह चौखटा केवल भौतिक न होकर मनोवैज्ञानिक होता है। यही नहीं कि यह चौखटा चित्र को इसके पर्यावरण से अलग करता है अपितु यह हमें उसके पर्यावरण से अलग कर उसे देखने में भी सक्षम कर देता है। महत्वपूर्ण बात यह नहीं कि चित्र सुंदर है अपितु यह कि चौखटा हमें यह प्रश्न पूछने के लिये बाध्य कर देता है—क्या यह सुंदर है? एक ऐसा प्रश्न जो सामान्यतः हम जीवन के विषय में नहीं करते। यदि सैंट कैथेराइन द्वारा वर्जिन के दर्शन की घटना को शेष जीवन से अलग किया जा सकता, काल के उस टुकड़े को अलग कर रंगमंच पर रख दिया जाता तो यह एक कलाकृति बन जायेगी, और उस स्थिति में इसमें सौंदर्य का गुण नहीं आ जायेगा बल्कि यह प्रश्न उठेगा कि क्या यह सुंदर है? चौखटे से बाहर, प्रवहमान अस्तित्व के अंश के रूप में इसके सौंदर्य के विषय में प्रश्न कभी नहीं उठेगा। उस स्थिति में यह प्रकृति से एकमेव हो जायेगा और केवल यही पूछा जा सकता है—ऐसा क्यों हुआ? क्या इसके

पूर्व और इसके पश्चात् आने वाली घटनाओं को यह जोड़ता है ? लेकिन यदि हम काल-धारा से इसे अलग कर चौखटे में बाँध दें तो इसके प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जायेगा। यह चिंतन का विषय बन जायेगा, और चिंतन की प्रक्रिया में आनंद प्रदान करने की अपनी शक्ति के अनुरूप इसमें सौंदर्य आ जायेगा। यदि प्रेक्षक जीवन के प्रेक्षागृह से कला के रंगमंच की ओर एक कदम भी बढ़ाता है तो इसका सौंदर्य चौपट हो जाता है। चौखटा कला के संसार और जीवन के ससार के मध्य तथा चिंतन के संसार और कर्म के संसार के बीच की विभाजक रेखा का काम करता है और यह संक्रमित हो जाता है। चौखटे का मूल तत्त्व यह है कि इसका कभी अतिक्रमण न होने पाये। चौखटे के बाहर सतत परिवर्तनशील, वर्द्धमान और विनष्ट होने वाला संसार है प्रेक्षक जिसका अविभाज्य अंग है, वह निष्क्रिय हो सकता है लेकिन कर्मधर्मी संसार में वह किसी भी क्षण कूद सकता है, गति में शामिल हो सकता है, सीढ़ियों पर चढ़ते हुए दर्शक को अपने हाथ का सहारा दे सकता है। मतलब यह कि उसकी निष्क्रियता उसकी संसक्ति में बाधक नहीं हो सकती। हेमलेट द्वारा नाटक के भीतर नाटक की योजना सृजनशील कलाकार द्वारा चौखटे को अलग रखने के आग्रह का प्रतीक है। जब तक उसकी माँ और उसके चाचा यथार्थ जीवन के आवागमन में फंसे हुए हैं तब तक उनकी चेतनाओं को अलग कर उनकी परीक्षा नहीं की जा सकती। राजा के समक्ष एक कलाकृति प्रस्तुत करके ही उसकी चेतना को पकड़ा जा सकता है। राजा के ये शब्द कि 'मुझे प्रकाश दो' ही चौखटे को तोड़ सकते हैं और प्रयोग को समाप्त कर सकते हैं। चौखटे के भीतर परिवर्तन के किसी भी लक्षण से असंपृक्त एक स्थित संसार है जो एक दूसरे व्यक्ति द्वारा रचा गया है। कारण-प्रभाव, यातना-आनंद के शाश्वत प्रवाह को इसमें से निकाल दिया गया है।

कर्म-संसार को अपने से निकाल कर प्रेक्षक की सृजनशक्ति को प्रभावित करने की यही क्षमता चौखटे के प्रभाव को प्रेक्षक के ऊपर इतना गहन बनाती है और उसे अपने सौंदर्य या सौंदर्य के अभाव के प्रति इतना अधिक सचेत बना देती है।

सौंदर्य का केंद्रीय लक्षण यह होता है कि यह किसी साध्य का साधन न हो कर स्वयं साध्य होता है। इसका प्राण तत्त्व इसकी अनुपयोगिता में निहित होता है। जीवन का प्रत्येक मूल्य वांछनीय होता है क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय मूल्यों की ओर हमें ले जाता है; केवल सौंदर्य ही ऐसा मूल्य है जो असंपृक्त रूप से वांछनीय होता है और इसकी वांछनीयता का अनुमान केवल सृजन चेतना द्वारा ही लगाया जा सकता है। कभी-कभी कर्ममय जीवन के साथ यह

इस कदर उलझ जाता है कि इसे अलग कर पाना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ भोजन का स्वास्थ्य पक्ष इतना स्पष्ट होता है कि यह उसके सौंदर्य पक्ष को ढक लेता है। फिर भी किसी भी व्यक्ति से आप उसके आचरण के संबंध में प्रश्न कीजिये तो उसका अंतिम उत्तर यही होगा कि वैसा करने में उसे सौंदर्य का आनंद प्राप्त होता है। प्रत्येक क्यों ?—आप काम क्यों करते हैं ? आपको पैसा क्यों चाहिये ? आपको भोजन, वस्त्र, कार आदि क्यों चाहिये—का उत्तर उसके पास है लेकिन आप सौंदर्य क्यों चाहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर वह नहीं दे सकता। सौदर्य बिल्कुल अनुपयोगी होता है, क्योंकि यह हमें अपने से आगे और कहीं नही ले जाता। यह पूर्णतः वांछनीय होता है क्योंकि यह अंतिम क्षुधा को शांत करता है।

सत्य और शिवत्व भी जो सामान्यतः सौंदर्य के साथ दार्शनिकों द्वारा परमतत्त्व मान लिये गये हैं, इससे अधिक वृत्तिमूलक और साधन के रूप में वांछनीय होते हैं। सत्य के अभाव में भ्रम और शिवत्व के अभाव में दुख होगा और भ्रम और दुख दोनों कर्म में हस्तक्षेप करते हैं। और इस हस्तक्षेप को दूर करने में सत्य और शिवत्व को साधन रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। लेकिन चूँकि सौंदर्य साधन न होकर साध्य होता है अतः जीवन के अन्य मूल्यों से इसे अलग रखा जाना चाहिये। और कलाकार के रूप में जब कोई व्यक्ति अपनी कृति में इसे अलग करने का प्रयास करता है तो चौखटे के भीतर इसे अलग करने के लिए वह बाध्य होता है। यह चौखटा प्रतीक के अतिरिक्त और कुछ नही है लेकिन एक ऐसा प्रतीक जो आवश्यक होता है। चौखटे के बाहर जीवन जीने के लिये जिया जाता है, इसके भीतर यह सुख के लिए मनन का विषय बन जाता है।

एक बार चौखटे के अस्तित्व में आ जाने के पश्चात् इसके भीतर के विषयों को नियमों के एक नये अनुक्रम से नियमित होना पड़ता है। चाहे वह कलाकृति संगीत हो जो समय के चौखटे में रहता है अथवा समय और स्थान दोनों के चौखटे में बंद कोई नाटक हो, अथवा अकेले स्थान के चौखटे में आबद्ध कोई चित्र, मूर्ति अथवा भवन हो, इस चौखटे के कारण ही उसमें सुपरिभाषित कोर प्रकट हो जाते हैं और कलाकृति का प्रत्येक तत्व इन कोरों से संबद्ध होता है। कलाकृति को आकार प्रदान करने वाले नियम प्रकृति के नियमों की ही भांति अनुल्लंघनीय होते है। कलाकार ज्यों ही तूलिका उठाता है ये नियम परिचालित हो जाते है। फलक के भीतर एक नया संसार जो जीने के लिए न होकर मननीय होने के लिए होता है, उसकी सीमाओं के भीतर प्रकट हो जाता है और दर्शक इसे सुंदर कहे या न कहे इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से हो ही नही सकती। इसका सौंदर्य उपेक्षणीय

हो सकता है, यह कुरुप लग सकता है लेकिन सुंदर-असुंदर की परिकल्पना के परे इसको व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। कृति के प्रति दर्शक का दृष्टिकोण चिंतन के नियमों से आबद्ध होता है और चिंतन सौंदर्य के अतिरिक्त और किसी अन्य मूल्य से कोई सरोकार नहीं रखता।

वेरानीज के चित्र को विकर्ण सामंजस्यों के क्षेत्र में एक प्रयोग मान लेने के पश्चात् हमारा यह कथन उचित होगा कि चित्र का यह पक्ष इसके रहस्य को छिपाये हुए है। चित्र के कंकाल से उसके अन्य सभी गुण जुड़े हुए हैं; उस कंकाल के अभाव मे यह कलाकृति का रूप नहीं धारण कर सकता। लेकिन यदि हम सादर्य शब्द की परिव्याप्ति को चित्र के विशुद्ध चाक्षुप, वास्तु-शिल्पीय पक्ष तक सीमित कर दें तो यह अनुचित होगा।

चित्र के विश्लेषण का प्रारंभ हम उसके विषय के विश्लेषण के साथ करते हैं और फिर वेरानीज की संवेदनशीलता, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण से होते हुए उसकी सांसारिकता, उसके स्थान-बोध, छायापुंजों, रंगपुंजों और अंत मे चित्र के चौखटे के भीतर उसके द्वारा किये गये रंग और रूप के अमूर्त संयोजन की ओर बढ़ते है। वेरानीज के चित्र को या तो हम किसी श्रृंगार-प्रिय वेनिसी महिला का प्रस्तुतीकरण मान सकते हैं अथवा रंग और रूप का एक अमूर्त संयोजन। दोनों रूपों में यह मननीय है, यद्यपि इस मनन मे हमारे मस्तिष्क के दो विभिन्न पक्ष क्रियाशील होंगे। इन दोनों पक्षों को एक दूसरे से अलग करने के लिए हमें नये शब्दों की आवश्यकता होगी और इससे कृति में विषय के महत्व का प्रश्न भी सरल हो जायेगा। एक ही बिंब सुंदर और असुंदर दोनों हो सकता है और यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम उस बिंब को किस प्रकार देखते हैं। विरोध वास्तव में सुदर और असुंदर में नहीं होता है क्योंकि ये एक ही अनुक्रम के दो छोर हैं। यह हम पहले ही जान चुके हैं कि प्रकृति के विषय में हमारा दृष्टिकोण केवल स्वीकार का ही हो सकता है क्योंकि हम स्वयं इसके अंश हैं जब कि कलाकृति के प्रति हमारा दृष्टिकोण समीक्षात्मक निर्णय का होता है क्योंकि कृति एक प्रकार की टिप्पणी होती है—परस्पर तुलनीय असंख्य टिप्पणियों में से एक। प्रकृति एक तथ्य है जो अपने प्रकार की है और इसलिये इसकी तुलना नही की जा सकती। चौखटे के बाहर का संसार ईश्वरीय रचना होता है जब कि इसके भीतर का संसार एक मानवीय रचना। और यह अंतर तब मालूम पड़ता है जब हम एक संसार से दूसरे संसार की ओर संतरण करने के आघात का अनुभव कर रहे होते है। इस आघात का ही परिणाम था कि मदाम तुसौद को मोम के बने हुए मानव आकार में जीवित मनुष्य का भ्रम हो गया था और उसे कार्यक्रम बेचने वाला समझकर उन्होंने छ पेंसका सिक्का उसकी ओर बढ़ा दिया था।

सामान्य जीवन में कार्यक्रम बेचने वाले को पैसा देना एक सामान्य बात है लेकिन कलाकृति के साथ ऐसा करना चौखटे की पवित्रता को भंग करना, जीवन और कला के बीच की सीमारेखा का उलंघन करना, चिंतन के साम्राज्य में क्रियाशील होना था। एक बार यह स्वीकार कर लेने के पश्चात् कि सौंदर्य एक केंद्रीय चाक्षुष ढांचे के चारो ओर निर्मित अनेकों प्रकार की मानवीय अनुभूतियों का मिश्रण है जो चिंतन के लिए उत्तेजित तो कर सकता है लेकिन कर्म-जीवन से इसका कोई संबंध नहीं होता, 'शुद्धता' की दुहाई बंद हो जायेगी। उसी क्षण कला अंतहीन बन जाती है और प्रत्येक कलाकार मनुष्य के रूप में अपनी पूर्णता के कारण प्रतिमाओं के विशाल अनुक्रम में अपना स्थान ग्रहण कर लेता है।

लेकिन जिस प्रकार माँस और कंकाल एक दूसरे के ऊपर निर्भर करते हैं उसी प्रकार कलाकृति में व्यक्त होने वाले अनुभव के विभिन्न स्तरों में भी एक पारस्परिक संबंध होता है। गहनतर सौंदर्यमूलक पर्तें अपने आप अस्तित्व में रह सकती हैं लेकिन ऊपर की मानवीय पर्तें नीचे से शक्ति के अभाव में अपना कार्य नहीं कर सकती। इस मिश्रण के समृद्धि का आधार चौखटे की शक्ति और उसकी मजबूती होता है। भव्य समारोह का आभास देने की वेरानीज की शक्ति उसके विशुद्ध रूपात्मक सृजन शक्ति के कारण है। वांछनीय जीवन के विषय में उसके अनेकों समकालीनों की भी यही धारणा रही होगी लेकिन इस अमूर्त धारणा का चाक्षुष सममूलक प्राप्त करने के लिए रंग और नक्शानवीसी को शक्ति के अतिरिक्त 'और कुछ' की दरकार होती है—इसे दरकार होती है उस शक्ति की जिसे 'कल्पना' कहा जाता है अर्थात् संवेगात्मक अनुभव और तकनीकी कौशल का पूर्ण सामंजस्य। इस शक्ति के बिना उच्चकोटि का तकनीकी कौशल और अनुभव की गभीरता व्यर्थ हो जाते हैं। यह आ जाने पर कलाकार की केवल एक ही सीमा बचती है और वह है उसके अनुभव का गुण। प्रत्येक कलाकार की सीमा निर्धारित होती है उसकी संवेगात्मक क्षमता द्वारा न कि संवेगों की अभिव्यक्ति की उसकी शक्ति द्वारा।

कुछ ऐसे भी कलाकार हुए हैं जो अपने काल से पहले या बाद में पैदा हुए, जब उनके पास वह तकनीकी कौशल नहीं था जिसके द्वारा वे अपनी वैयक्तिक कल्पना की पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकते। वेरानीज और टिटियन में जो अंतर है वह इसी कारण है। कभी-कभी कलाकार को व्याप्त परंपराओं से संघर्ष करना पड़ता है ताकि वह अपने कथ्य को और सशक्त ढंग से व्यक्त कर सके। जो चाक्षुष शब्दावली उसके लिए ग्राह्य होती है उसकी तलाश में वह पारंपरिक शैली में कुछ अपनी ओर से जोड़ देता है। वैयक्तिक दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति

के लिए वह जो कुछ जोड़ता है वह हल्का अवश्य होता है लेकिन कुछ जोडना उसके लिए आवश्यक होता है लेकिन जोड़ने का ढंग उसके समक्ष स्पष्ट होता ह । वेरानीज ने अपनी समकालिक वेनिस की कलापरंपरा में काफी कुछ जोडा है लेकिन इसके लिए उसे कारपेशियों से आगे तिर्यक रेखा के विकास को देखना पडा था यह देखने के लिए कि उस तिर्यक रेखा को उसके दिशा-परिवर्तन के बिना और आगे तक किस प्रकार खींचा जा सकता है । उसके अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए अनुकूल आकार पहले से ही मौजूद था । उसे जो कुछ कहना था उसे कहने के लिए उसे बहुत कम परिवर्तन उसमें करना पडा ।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि रूप और विषय को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता अर्थात् कलाकार को 'जो कहना था' और 'जैसा उसने कहा है' को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता । यह भी कहा जा सकता है पूरा चित्र कलाकार के कथ्य का चाक्षुष सममूलक होता है । तकनीकी दृष्टि से रूप और विषय को अलग नहीं किया जा सकता लेकिन व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए सामान्य बोध पर आधारित भेद को ध्यान में रखे बिना कला पर विचार करना असंभव है । लेकिन रूप और विषय के बीच चिरपरिचित अंतर विषय के विभिन्न स्तरों के मध्य वाले अंतर की अपेक्षा अधिक वैध नहीं है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि विषय में आंशिक रूप से विशुद्ध वर्णन, वर्णित-वस्तु पर टिप्पणी और सामान्य रूप से जीवन के प्रति दृष्टिकोण तीनों का समाहार होता है । वर्णन के रूप में वेरानीज का चित्र एक विशेष वास्तुशिल्पीय पृष्ठभूमि में, विशेष मुद्राओं में, विशेष व्यक्तियों के चाक्षुष वृतात से अधिक कुछ भी नहीं । हमारे लिए यह वर्णन-पक्ष इसलिये सरल हो जाता है क्योंकि हम 16 वीं शताब्दी वेनिस के सामाजिक इतिहास और उस समय के अन्य चित्रकारों की कृतियों से परिचित हैं । तात्पर्य यह कि जीवन के विषय में हमारा अनुभव हमारे बोध को शक्ति प्रदान करता है । लेकिन ज्यों ही हम चित्र को वृतांत के रूप में न ग्रहण कर टिप्पणी के रूप में ग्रहण करना प्रारंभ करते हैं त्यों ही जीवन के विषय में हमारा ज्ञान और अनुभव हमारा साथ छोड देते हैं और हम वेरानीज व्यक्ति से उलझ जाते हैं । चित्र अपनी स्वायत्तता खो देता है और वेरानीज के संसार का एक अंश मात्र प्रतीत होने लगता है । सेंट केथेराइन की ओर देखकर हम अपने संसार को भूलकर वेरानीज के संसार को स्वीकार कर लेते हैं और इस स्वीकार के साथ ही हमारे इस विश्वास की शुरुआत हो जाती है कि हम किसी सौंदर्यजनक वस्तु के समक्ष खड़े हैं । लेकिन यह शुरुआत केवल शुरुआत भर होती है । चित्र का विषय और गहरे आयाम ग्रहण कर लेता है । हमारे लिये केवल यही नहीं पर्याप्त रह जाता कि हम उस

घटना के प्रति उसके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें,....हमें और गहरे जाकर सभी संभव घटनाओं के प्रति उसके दृष्टिकोण को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार जिस प्रकार पहले सतह पर हमने अपने संचित ज्ञान और अनुभव के आधार पर चित्र पर निर्णय दिया था, इस सतह पर हम इस पर तभी निर्णय दे सकते हैं जब वेरानीज के जीवन और उसकी कला की पूर्णता का अनुभव और ज्ञान हमारे पास हो। इस चित्र को समझने के लिए हमें उसके अन्य चित्रों को भी जानना आवश्यक हो जाता है, चित्रकार से सभी उपलब्ध विंदुओं पर संपर्क स्थापित करना पड़ता है जब तक कि सेंट केथेराइन एक विच्छिद वक्तव्य के स्थान पर वेरानीज शैली का एक नमूना भर बन कर न रह जाय। दूसरे शब्दों में चित्र की कसौटी हमारी अपनी न रह कर वेरानीज की हो जाती है। चित्र अधिक सुंदर इसलिये नहीं लगता कि यह हमारे चिरपरिचित जीवन की भाँति है अपितु इसलिये कि यह उसके ठीक विपरीत है। यह एक ऐसा अनुभव है जो वेरानीज के अभाव में घटित ही न हुआ होता। इसी विंदु पर कला-इतिहासकार कला के अपने विस्तृत ज्ञान के कारण सामान्य आदमी से बाजी मार ले जाता है। जिस प्रकार सामान्य आदमी दो मनुष्यों के बीच के अंतर को बड़ी चतुराई से जान जाता है ठीक वैसे ही कला-इतिहासकार दो चित्रों के अंतर को लक्ष्य कर लेता है। दोनों स्थितियों में अनुभव ने संवेदना की धार पैनी कर दी है। अनुभव वह शक्ति है जो हमें वर्तमान को अतीत की स्मृति के परि-प्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की शक्ति देता है। जितनी ही पूर्ण हमारी स्मृति होगी उसी अनुपात में हमारी व्याख्या भी तीक्ष्ण होगी। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हमारे सौंदर्यबोध में प्रत्येक स्तर पर 'साहचर्य' की भूमिका होती है। वेरानीज का चित्र उस स्थिति में अधिक सुंदर प्रतीत होगा जब हम अपने अतीत के सुखद या स्मरणीय अनुभवों से इसे जोड़ देते हैं। और चूँकि हममें से अधिकतर के जीवन का अनुभव कला के अनुभव की अपेक्षा अधिक समृद्ध अथवा वैविध्यपूर्ण होता है इसीलिये किसी चित्र की ऊपरी पर्त आंतरिक पर्तों की अपेक्षा साहचर्य-जन्य मूलों के संबंध में अधिक समृद्ध होती है। लेकिन किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना करना कठिन नहीं है जिसके कला-विषयक अनुभव उतने ही समृद्ध हों जितने जीवन-विषयक। ऐसे व्यक्ति के लिए वेरानीज के हस्तलेखन, लय, रंग-संयोजन और रचनाकौशल विषय की भाँति ही साहचर्य-बोधक होंगे। कलाकार को महान बनाने वाली अथवा कलाकृति को सुंदर बनाने वाली शक्ति वह है जो दर्शक की स्मृति के प्रतिसंवेदी स्वरों को कंपा दे।

लगभग प्रत्येक मनुष्य का अनुभव चित्र के भाव के प्रति उसे संवेदित करने की शक्ति रखता है। लियोनार्दो का 'अंतिम भोज' मानवीय कल्पना को केवल

इसालिय अभिभूत कर लता ह क्योंकि यह वर्णित क्षण के नाटकीय अर्थो का एक समग्र एवं अनुकूल चित्रण प्रस्तुत करता है। लेकिन अनेकों घटिया चित्रो मे भी इस प्रकार चित्रण हुआ है। और सामान्य व्यक्ति की असली समस्या यही प्रारंभ होती है। समीक्षक इस बात पर बल देते हैं कि लियोनार्दो के चित्र का भाव कुछ अधिक 'सच' अथवा अधिक 'प्रामाणिक' है लेकिन उनकी धारणा गलत है। लियोनार्दो की महानता इस बात में है कि उसने अपनी कल्पना-यात्रा को ऐसे कोनों में घसीटा है जहाँ सामान्य आदमी उसका साथ नहीं दे सकता। उसके चित्र की नाटकीयता का यही रहस्य है।

सेजां, जिसके लिए नाटकीयता अथवा भावुकता का कोई मूल्य नहीं था, कभी-भी लोकप्रिय नही हो सकता यद्यपि उसकी महानता से कोई इंकार नही कर सकता। पोसी जिसने ऊपरी पर्त पर बहुत कम ध्यान दिया है, शायद ही कभी 'मानव' चित्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हो पाये। अनेकों ऐसे चित्रकार हुए है जिन्होंने भावुकता की दुनियाँ में या तो कोई रुचि नहीं दिखायी या फिर इसे पूर्ण रूप से त्याग दिया। ऐसे कलाकार सामान्य व्यक्ति के लिए कभी भी रुचिकर नहीं हो सकते क्योंकि वे उसकी परिचित जमीन पर उससे मिलना अस्वीकार कर देते हैं और उसे ऐसे प्रकोष्ठों में ठेलने का आग्रह करते हैं जिसके बारे में वह कुछ भी नहीं जानता।

जब कोई सामान्य व्यक्ति यह कहता है कि 'कला के बारे में मैं कुछ भी नही जानता' तब वास्तव में वह उन्हीं परिचित स्थलों की ओर संकेत करता है लेकिन जब वह यह कहता है कि 'मुझे मालूम है कि मैं क्या पसंद करता हूँ' तब वह अपने परिचित अनुभवों की ओर संकेत कर रहा होता है। यदि वह कुछ और गहरे जाकर अपनी बात कहे तो वह यह कहेगा कि 'मुझे वे कला-कृतियाँ पसंद हैं जो मेरे अनुभवों को सिद्ध करती है लेकिन उन्हे अधिक संगठित रूप में प्रस्तुत करती हैं'। और यदि वह अपने वक्तव्य को तार्किक परिणति देने के लिए प्रस्तुत हो जाय तो वह यह भी स्वीकार कर लेगा कि अपने अनुभवों के विस्तार के साथ ही वह उन कलाकृतियों को भी चाहने लगा है जो आज तक उसके लिए अनुभवगम्य न होने के कारण बिल्कुल ही अनाकर्षक थीं। वह यह मान कर चलता है कि कला के रहस्यों को केवल विशेषज्ञ ही समझ सकता है और यह कि इस प्रकार की विशेषज्ञता सामान्यबोध वाले निर्णयों के लिए आवश्यक नहीं। चाहने का अर्थ होता है हिस्सा लेना। निश्चित रूप से यदि दर्शक का अनुभव कलाकार के अनुभव के सदृश्य नही है तो वह कलाकार के पूर्ण अभिप्राय को नहीं समझ सकता। लेकिन अपनी सहज बुद्धि के द्वारा दर्शक यह भी अनुमान लगा लेता है कि कलाकार के अभिप्राय का कितना अंश उससे

छूट गया है। जब वह किसी ऐसी वस्तु को देखता है जो उसकी समझ की सीमा के परे हो तो वह उसे 'कला' की संज्ञा देकर अस्वीकार कर देता है और उसे सामान्य आदमी की बुद्धि के परे मान लेता है। ऐसी स्थिति में वह यह मान कर समझौता कर लेता है जो वह नहीं ग्रहण कर पाया है वह कला है और उसका कोई महत्त्व नहीं क्योंकि 'जीवन' से उसका कोई संबंध नहीं। इस प्रकार 'मैं जानता हूँ कि मुझे क्या पसंद है', "मैं वही पसंद करता हूँ जो मैं जानता हूँ' में रूपांतरित हो जाता है।

समीक्षक का दायित्व यह है कि वह सामान्य आदमी को बताये कि कला-कृति की गहराई में उतरने के लिए उसे किस प्रकार के और कितने 'ज्ञान' की आवश्यकता है। वह यह भी बतायेगा कि लियानार्दो का चित्र जीसस के जीवन के एक नाटकीय क्षण के चित्रण से 'अधिक कुछ और' भी है। लेकिन आलोचक की सारी परेशानी इसी 'कुछ और' के मुद्दे पर एकाएक प्रकट हो जाती है। यह वास्तव में चित्रकार की अपनी वैयक्तिक जमीन होती है। उसके चित्र के वर्णनात्मक तत्व साहित्य की सीमा में आ जाते हैं और उन्हें गद्य में व्यक्त किया जा सकता है; ज्योमितीय तत्वों की रूपरेखा भी इतनी स्पष्ट होती है कि उन्हें शब्दों में उतारा जा सकता है। लेकिन इन्हीं दोनों परस्पर संबद्ध और एक दूसरे को आधार प्रदान करने वाले तत्वों के मध्य कलाकार का अपना नाजुक, झूला-पुल होता है, और सृजनात्मक मनोदशा—उत्तेजनायें, निस्पृहतायें, सहजज्ञान की कुलाचें और सहज ज्ञान की छटपटाहटें—जो चित्र के इस अंश के लिए जिम्मेदार होती हैं वही मनोदशा है जो समीक्षक के विश्लेषण और विश्लेषण के परिणामस्वरूप उसके द्वारा अपनाये जाने वाले बौद्धिक, तार्किक और सहजज्ञान से शून्य चौखटे के कारण लुप्त हो जाती है। समीक्षात्मक दृष्टि का वास्तव में पूर्ण परित्याग किया जाना चाहिये। शब्द कलाकार के अभिप्राय की 'व्याख्या' नहीं कर सकते हैं; वे केवल चित्र के समभूलक भर हो सकते हैं। अपने विश्लेषक औजारों को छोड़कर कलाकार की ही भाँति गहरे पानी में पैठने के लिए तैयार समालोचक के लिए कुछ आसानी हो सकती है। उसे इस बात से चिंतित नहीं होना चाहिये कि वह पाठक के लिए सत्य की खोज करने के लिए बाध्य है। उसे शब्दों का भवन अपने लिये उसी प्रकार बनाना पड़ेगा जिस प्रकार कलाकार रंगों से अपना भवन बनाता है; ऐसा करते समय उसे अपनी सहज उत्तेजनाओं और निरर्थकताबोधों पर आश्रित रहना पड़ेगा और यही प्रार्थना करनी पड़ेगी कि उसका सहजज्ञान उसे महज बेहोशियों और भावुकताओं से बचाने में पर्याप्त समर्थ हो।

प्रत्येक महान चित्र का यह गुण होता है कि उसे देखने के बाद जीवन का कोई न कोई कोना बदल अवश्य जाता है, कोई न कोई अनुभव हमेशा के लिए

शक्तिपूरित हो जाता है, इसका अपना एक सत्य अस्तित्व में आ जाता है। किसी कलाकार की प्रतिभा की परिभाषा इन प्रश्नों के उत्तर में निहित होती है—जीवन के किस अंश को उसने प्रकाशित किया है? वे कौन सी वस्तुयें हैं जो चित्र देखने के पश्चात् बदल गयी हैं?

लेकिन यह प्रकाश समुच्चयी होता है। प्रत्येक कलाकार अपने विशिष्ट 'स्कूल' के प्रकाश में अपना प्रकाश मिलाता हुआ सामान्य प्रसार में अभिवृद्धि करता है। वेनिस की चित्रकला के विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। 15 वीं सदी में फ्लोरेंस से चारो ओर फैलने वाले मानवतावाद से अपने मूल को ग्रहण कर यह चित्रकला कमोबेश पूरे इटली में फैली, फिर वेनिस तक पहुँचते-पहुँचते मूल फ्लोरेंस शैली मे पर्याप्त अंतर आ गया और क्रमशः संगीत, क्लांति और दिवास्वप्न के तत्व इसमें शामिल हो गये। फ्लोरेंस शैली का सबसे सशक्त हस्ताक्षर था जारजियोनी (17) और दूसरे को पोषित किया कारपेशियों (11) ने। इन दो भिन्न मनोदशाओं को यदि छोड़ दिया जाय तो वेनिस की चित्रकला में सज्जाप्रिय कल्पना विलास (22) के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता।

टिटियन ने जारजियोनी के प्रभाव से अपने को मुक्त करने के पश्चात् इस शैली में शक्ति और स्फूर्ति का समावेश किया। और टिंटोरेटो ने इसमें एक नये अन्यमनस्क तूफान का आयाम जोड़ा। लेकिन इन दोनों चित्रकारों की असाधारण प्रतिभा के बावजूद वेनिस कला का मूल स्वरूप अधिक नहीं बदला है, संगीत, समारोह और दिवास्वप्न के गुण इनमें प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं। फ्लोरेंस की बौद्धिकता, स्पष्टता और चिंतन परंपरा का प्रवेश इसमें नहीं हो पाया है। वेरानीज जो समारोह-शैली का महानतम् कलाकार है, वेनिस स्कूल की भव्यता एवं वाह्य सज्जा का चित्रकार है लेकिन उसके चित्रों में एक काव्यात्मकता है और ऐंद्रिक छाया-ध्वनियों को पकड़ने की अद्भुत क्षमता। जियोवेनी बेलिनी (21) और मैन्तेग्ना (20) एक ही विषय को लेकर चित्र बनाते हैं लेकिन ऐंद्रिक छाया-ध्वनियों का जैसा समावेश वेलिनी में है वैसा मैन्तेग्ना में नहीं। यह गुण कारपेशियों, टिटियन और टिंटोरेटो सबमें मिलता है।

यदि ये मुट्ठी भर चित्र खो जांय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वेनिस स्कूल की महान कृतियाँ समाप्त हो गयी हैं लेकिन इतना तो होगा ही कि इनके खोने का तात्पर्य होगा मानव संवेगों के सर्वाधिक जादुई मीमांसा का खो जाना, जिनका दर्शन हमें जारजियोनी के दुर्लभ चित्रों में हो सकता है। जारजियोनी अपने में ही एक स्कूल है जिसका न कोई पूर्वगामी है और न कोई उत्तराधिकारी। वेनिस स्कूल के चित्रकारों में जारजियोनी के प्रति एक असीम आकर्षण है और

वेरानीज की महानता के पीछे यही राज़ है। रेटारिक की मधुर तरंग, वेनिस की चमकती हुई धूप में झलझलाती हुई अटारियों के गुच्छे, उसकी आकृतियों की बलिष्ठ सुकुमारता और उन्हें एकजुट करने की उसकी अपूर्व क्षमता और आत्म-विश्वास के बावजूद, उसके चित्रों में सर्वदा दिवास्वप्न की झलक होती है जो उसे मज्ञावटियों और समारोह-चित्रकारों से अलग करती है और उसे स्वप्नदर्शियो की पंक्ति मे स्थित कर देती है। इन स्वप्नदर्शियों में निश्चय ही उसका स्थान काफी नीचे है, उसकी कला का यह एक विरोधाभास है। जारजियोनी की पद्धति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है इसकी गृहस्मारी शक्ति। इस शक्ति के सूक्ष्म मिश्रण हमें ऐसे कलाकारों में मिलते हैं जो स्वभाव से स्वप्नदर्शी न होते हुए भी अनजाने ही इसके शिकार हो गये हैं।............

स्मृति और अनुभव के अपेक्षाकृत गूढ़ स्तरों तक पहुँचने के लिए मनोवैज्ञानिको का सरलतम नुस्खा है 'स्वतंत्र संयोजन' (फ्री एसोसियेशन) और ठीक यही प्रक्रिया हमें भी अपनानी पड़ेगी यदि हम किसी कलाकार के स्वर मे स्वर मिलाना चाहते हैं। लेकिन यह तभी संभव है जब कि संयोजनों का एक विशाल पुंज हमें उपलब्ध हो। 'स्वतंत्र-संयोजन' का आधार होता है स्थित अनुभव का एक विशाल भंडार, जितना ही विशाल अनुभवों का भंडार होगा उतनी ही सरल यह प्रक्रिया होगी। और कला-विपयक अनुभव ही सबसे अधिक सरलता से प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि वे अनेकों असंगतियों से असम्पृक्त होते हैं और इसी कारण दिन-प्रति-दिन के जीवन की स्मृतियों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और गहन भी। यह भी एक तथ्य है कि कुछ महान् कला-कृतियाँ हैं जो हमारे कलागत अनुभव से प्रकाशित नहीं होती हैं। और आधुनिक चित्रकला के कुछ पक्षों के प्रति यदि आज का आदमी उदासीन है तो उसका कारण यही है। पिकासो की कुछ कृतियाँ इस तथ्य की प्रमाण हैं। लेकिन वेरानीज के साथ ऐसा नहीं है। उसकी कला के पर्याप्त अंश को वेनिस की कला परम्परा और कारपेशियों और टिटियन की कृतियों की पृष्ठभूमि में आसानी से परखा जा सकता है। वेरानीज के चित्रों को देखते हुए और साहचर्य के दरवाजे इसे खोलने की अनुमति देते हुए 'सौम्य जीवन', 'वांछनीय जीवन', 'ऐंद्रिक सुख', 'ठहरो', 'चखो', 'सुनो', 'रस लो' जैसे शब्द हमारे मस्तिष्क में तैरने लगते है। और उन्हीं के साथ एक शताब्दी बाद की फ्रेंच कृति 'द लेडी विद यूनीकार्न' (23ब) की धुंधली स्मृतियाँ भी जागृत हो जाती हैं। दोनों कृतियों के बीच कोई संबंध नहीं। वेरानीज ने अपने चित्र में सुसंकृत और गर्वोन्मत्त नागर जीवन की चेतना डाली है जब कि फ्रेंच चित्र सामंतवादी ग्रामीण परिवेश पर आधारित है। वेरानीज में एक अभिजात्य सौम्यता है, जब कि फ्रेंच कलाकार कोणीय,

लहरदार और गाथिक प्रकृति का परिचय देता है। वेरानीज का रंग शीतल और चमकदार है, जबकि फ्रेंच कृति का रंग उष्ण और भव्य है। लेकिन संयोजन की प्रक्रिया चलती है। दो संगीत, एक दूसरे से भिन्न, दो भिन्न रागसंयोजन के बावजूद एक ही प्रकार की मनोदशा को जागृत करते हैं। यह वह मनोदशा है जिसमें कर्मरत जीवन को बाँध लिया जाता है लेकिन ऐंद्रिकता और चिंतन का जीवन प्रवाहित होता रहता है। फ्रेंच चित्र में महिला फल चखती है, संगीत सुनती है, गंध, स्पर्श और दृष्टि का आनंद लेती है और छोटे-छोटे पीताभ लपटों से भरे हुए आकाश-रंगी मंडप के द्वार पर स्थिर मुद्रा में खड़ी है। वह स्वप्नों की दुनिया में खोई है जिसके निर्माण में कुलचिह्नविद्या, पशु विद्या और जीववैज्ञानिक ने योगदान किया है और जिसे प्रेमी तथा सुखवादी ने सबद्धता प्रदान की है। इसका संसार भी, कर्म, कष्ट अथवा संशय से मुक्त है। वेरानीज ठीक इसी दुनिया का रहीस है। सुखवाद, वेरानीज के संदर्भ में पतन का अर्थ नही रखता, वह बेशकीमती हीरों, इत्रों आदि पर मनन नहीं करता, वह उनका प्रयोग करता है, वह पलायनवादियों की ऐंद्रिक सुखवादिता में गर्व को भी जोड़ देता है ताकि वह नैतिक मानदंडों से बच जाय। एक दूसरे आधार पर भी उसके चित्र पर सुखवादिता का आरोप नहीं लगाया जा सकता और वह है चित्रित महिला की निश्छलता। पतन के पूर्व स्वर्गवाटिका में विहार करती हुई ईव पर भी पतनोन्मुखता का आरोप लगाया जा सकता है। लेकिन 16वीं सदी से मध्य में इस प्रकार की निश्छलता असंभव थी। फ्रेंच पच्चीकारी मे वसंत का उन्माद है, फूटती हुई कलियों और तीखे रंगों की मनोदशा है; वेरानीज के चित्र की मनोदशा पतझड़ के प्रारंभ की मनोदशा है, पूर्ण प्रफुल्लित फूलों और पवन की समृद्ध विविधता से पूर्ण वेरानीज के चित्र में स्पष्ट है कि रूप और रंग एक इकाई के रूप में परिकल्पित किये गये थे। पूरा का पूरा चित्र रंग योजना का अद्भुत उदाहरण है और इसकी पराकाष्ठा वर्जिन की आकृति मे होती है। वेरानीज की पद्धति के लिए रंगों का समूहीकरण एक अनिवार्य तत्व है। वेरानीज के चित्रों में प्रायः श्वेत प्रकाश और सुनहरे प्रकाश का अद्भुत मिश्रण है। यदि वेरानीज एक विशुद्ध इंद्रियार्थवादी होता तो भी चित्र की ग्राह्यता कम न होती क्योंकि जो साहचर्यधर्मिता इससे जागृत होती है वह निश्चित रूप से ग्राह्य है। फूलों, फलों, कीमती धातुओं और मूल्यवान पाषाणों के अतिरिक्त और किसी शब्दावली में इसकी परिभाषा ही नहीं की जा सकती। लेकिन समूहीकरण का जाल पर्याप्त नहीं है, चाहे वह ध्वनियों, शब्दों अथवा रंगों का ही क्यों न हो। कला अलग-अलग तत्वों पर आश्रित न होकर मिश्रण पर आश्रित होती है और इस प्रकार के मिश्रण में वेरानीज की कोई तुलना

नहीं। यही कारण है कि उसकी कृतियों की बिन्दु-चित्री प्रतिकृतियों में रंग की अपेक्षा बराबर बनी रहती है। वे कोमल, संकेतित भावमुद्रायें तथा आभिजात्य और औचित्य का पूर्ण संतुलन जिस मनोदशा को जन्म देते हैं वह वस्तुतः वही मनोदशा है जो नयनाभिराम पुष्पों और फलों, धातुओं की चमक और मूल्यवान पत्थरों द्वारा पैदा होती है। दोनों एक दूसरे को शक्ति प्रदान करती हैं और फिर एक आभिजात्य पूर्णता में घुलमिल जाती हैं। यह प्रक्रिया जोड़ने की न होकर गुणन की प्रक्रिया है अर्थात् रंग + रूप की न होकर रंग × रूप की प्रक्रिया।

निश्चय ही न तो यह प्रक्रिया गंभीर होती है और न ही व्यग्रकारी। न तो आभिजात्य औचित्य और न ही फूलों और धातुओं का मिश्रण ही हमारे गहनतर संवेगों को जगा सकते हैं। लेकिन ठीक इन्हीं के कारण चित्र के लिए 'सुंदर' शब्द का प्रयोग होगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि टिटियन और रेंब्रां के उत्तर-कालीन चित्रों की गंभीरता अथवा मेलग्रेको का अन्यमनस्क आह्लाद अथवा गोया का आक्रोश कम सुंदर है, लेकिन वेरानीज के चित्र में मस्तिष्क को ठेस पहुँचाने वाले तत्त्व कम हैं, भयंकर अज्ञात अथवा अवांछनीय का कोई संकेत उसके चित्र में नहीं। पुनर्जागरण काल में जबसे मनुष्य सौंदर्य के विषय में आत्मचैतन्य हुआ और इसके प्रभावों की विभिन्न कोटियों में अंतर करना शुरू किया तभी से सौन्दर्य को उदात्त और सौम्य की दो कोटियों में बाँट दिया गया। पुनर्जागरण के उत्कर्ष काल तक यह भेद काफी स्पष्ट हो गया था। रेफेल और माइकेलऐन्जिलो ने एक ओर सौम्यता की हिमायत की तो दूसरी ओर उदात्तता की, लेकिन दोनों अतिवादिता के खतरे से अपने को बचाने का प्रयास नहीं कर पाये। सौम्यता अति माधुर्य के माध्यम से परितृप्ति में बदल गयी और उदात्तता अतिनाटकीयता की चट्टान से जा टकरायी। लेकिन क्या कारण है कि कला और प्रकृति के कोमल और सौम्य पक्षों के लिए तो हम 'सुंदर' शब्द का प्रयोग करते हैं और उनके अधिक हिंस्र और व्यग्रकारी पक्ष के लिए इसके प्रयोग में संकोच करते हैं? संभवतः इसका कारण यह है कि हिंस्रता और व्यग्रता की मनोदशायें रूप में तो व्यक्त हो सकती हैं लेकिन रंग में नहीं और इस प्रकार पूर्ण मिश्रण असंभव हो जाता है।

यह महज संयोग नहीं कि माइकेलऐन्जिलो की रंग योजना सुखद होते हुए भी उसके चित्रों के पूर्ण प्रभाव में बहुत कम योगदान करती है। और यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि टिटियन की बाद वाली कृतियों में रंगों का महत्त्व उतना नहीं जितना पहले की कृतियों में। बीथोवन ने भी अंतिम वर्षों में वाद्यवृन्दों के समूहीकरण की अपेक्षा चतुष्पदी तारों को प्रधानता दिया था।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है रंग एक संवेद है—नेत्र-बोध के स्थान पर नेत्रों पर एक प्रकार का बम-विस्फोट। रंग का आनंद निष्क्रिय होता है और रूप का सक्रिय। परिणामतः सौन्दर्यमूलक सुख अथवा विकर्षण की गहनता के बावजूद यह बुद्धि को कभी भी प्रभावित नही करता।

यदि सुंदर शब्द का 'उत्तेजक', 'हृदयस्पर्शी', 'प्रभावशाली' तथा उदात्त कला की परिभाषा के लिए प्रयुक्त अन्य विशेषणों से अलग कोई अर्थ है तो वह यह कि यह संवेदन और प्रत्यक्ष बोध तथा ऐंद्रिय और बौद्धिक के बीच पूर्ण संतुलन का उल्लेख करता है। और चूंकि 'उदात्त' कला में यह संतुलन सर्वाधिक वांछित होता है अत. यह 'सुंदर' से भिन्न है। रंग केवल बुद्धि की कीमत पर ही पूर्ण ऐंद्रिय आनंद उत्पन्न कर सकता है। इन दोनों का संबंध उसी प्रकार है जैसे झूमा-झूमी के दोनों छोरों का होता है लेकिन साथ ही यह भी कल्पना करना असभव है कि दोनों का मिश्रण नहीं होता। 'सौंदर्य' का शुद्ध रूप तभी प्रकट होना है जब रंग और रूप एक दूसरे में पूर्णरूप ने घुल जाते हैं, जब दोनों का उद्गम एक ही सृजन शक्ति में होता है और जब दोनों का प्रभाव हमारी इंद्रियो पर बराबर होता है।

लेकिन 'मिश्रण' और 'घुलन' दोनों भ्रामक शब्द हैं क्योंकि इनसे यह आभास होता है कि एक दूसरे से भिन्न तत्वों को आँच पर पका कर एक में गला दिया जाता है। यह धारणा बिल्कुल असत्य है। ठीक वैसे ही जैसे यह धारणा कि मानव शरीर त्वचा, मांसपेशियों, नाड़ियों, जोड़ों और हड्डियों का मिश्रण है। ऐसा वर्णन सुविधापरक होते हुए भी असत्य है। मानवशरीर की ही भाँति कला-कृति एक आंगिक पूर्णता है; कला समीक्षा इसके टुकड़े-टुकड़े कर इसका उल्लेख करने के लिए मजबूर होती है लेकिन इसकी अवधारणा इस प्रकार नहीं की गयी थी। कलाकार के मस्तिष्क में अपने प्रथम स्फुरण से लेकर तूलिका द्वारा रूप ग्रहण करने के विकास क्रम के प्रत्येक बिंदु पर यह एक सुसंघटित रचना थी, गूढ़ और बहु-आयामीय, लेकिन अपनी संरचना में एक और एकीकृत।

संभवतः रुचि का इतिहास अनलिखा ही रह जायेगा। इसके लिए सामग्री जुटाने में केवल अतिमानवीय लगन की ही आवश्यकता नहीं होगी अपितु उन सारे प्रभावों के ज्ञान की आवश्यकता होगी जो सभ्यताओं को प्रभावित करते है। किसी भी एक मनुष्य के लिए यह संभव नहीं। यही नहीं, रुचि के इतिहास का अर्थ है लुप्त प्रेमों और पक्षपातों का इतिहास और इस इतिहास का लेखक भी अपने प्रेमों और पक्षपातों से मुक्त नहीं होगा। निष्पक्षता एक आदर्श है जिसकी उपलब्धि किसी भी इतिहासकार को नहीं हो सकती। बिना पूर्वाग्रह के

वह महत्वपूर्ण और इसके विलोम की घटनाओं में भेद नहीं कर सकता। विशेष-रूप से जब इतिहासकार घटनाओं के बजाय मानवीय वरीयताओं अथवा जुगुप्साओं मे दो-चार होता है जिनके समवाय परिणाम का नाम 'रुचि' होता है तब उसे अपनी रुचि से ही अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। वह इसका त्याग तो नहीं कर सकता लेकिन इसके होने का ज्ञान उसे अवश्य होना चाहिये। उसका चित्रण विरूपित अवश्य होगा लेकिन यदि वह इस तथ्य को जानता है तो उसे अपनी कृति में वस्तुपरक आलेख के अंतिमत्व का भ्रम नहीं होगा।

लेकिन रुचि के यंत्रविन्यास को बिना पूर्वाग्रह के समझा जा सकता है। इसके निर्माण में कलाकार के अपने राग-द्वेष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है लेकिन वह समूह चेतना जिसके सृजनात्मक पक्ष को 'शैली' और निष्क्रिय पक्ष को 'रुचि' कहा जाता है केवल कला से ही प्रभावित नहीं होती। इसका यंत्रविन्यास उस चलनी की भाँति होता है जो आकारों के बजाय गुणों को छाँट कर अलग कर देती है। इससे छन कर किसी क्षण जो कुछ भी गिरता है वही समीक्षक अथवा इतिहासकार का कच्चा माल है। लेकिन इन छननक्रिया के पूर्व उसकी सामग्री मे एकरूपता नहीं होगी; वह अस्पष्ट और परिणामतः अवर्णनीय होगी। लेकिन यदि हम चलनी से छनने वाले पदार्थ की बजाय चलनी के यंत्र-विन्यास पर विचार करे तो कला-इतिहासकार ही एकमात्र सहायक नहीं होगा। दर्शनशास्त्र से लेकर समाज-विज्ञान तक कोई ऐसा विषय नहीं जो रुचि को नियामित करने वाले कारणों पर प्रकाश न डाल सके। प्रत्येक मानव विचार और क्रिया इस विषय में अपना साक्ष्य देता है। पिछली शताब्दियों के सैलानियों के यात्रा-वृत्तान्त और गोथिक वास्तुकला पर प्रकट किये गये उनके विचार उनकी तत्कालीन कलात्मक रुचि का परिचय देते हैं। मैक्स फ्रीद लेंडर का कहना है कि प्रत्येक युग की अपनी आँखे होती है। 1930 में डोनाटेलो की दृष्टि 1870 मे उसकी दृष्टि से अलग है। जो प्रशं-सनीय और अनुकरणीय है वह प्रत्येक पीढ़ी को भिन्न दिखाई पड़ता है और इस प्रकार जिस किसी ने भी 1870 में डोनाटेलो की कृतियों को प्रकाशित किया 1930 में उसे वह यश नहीं मिल पायेगा। हम अपने पिताओं की मूर्खताओं पर हँसते हैं और हमारे उत्तराधिकारी हमारी मूर्खताओं पर हँसेंगे। एक युग द्वारा दूसरे युग की दृष्टि से देखने का प्रयास प्रशंसनीय और हास्यास्पद दोनों होता है। लेकिन इन प्रयासों का आनंद एक तीसरी पीढ़ी को मिलता है। जब एक काल विशुद्ध उत्साह की मुद्रा में और अपने भेष-परिवर्तन की किंचित इच्छा बिना दूसरे काल के वाह्य उपकरणों को ग्रहण करता है तो हम हँसते नहीं बल्कि प्रशंसा करते हैं। गोथिक कला का पुनर्जागरण 18 वीं सदी में स्ट्राबेरी हिल (30) से विकसित होकर 20 वी सदी के लिवरपुल कैथेड्रल तक पहुँचा है और

इस विकास क्रम में इस मध्ययुगीन कला के अनेकों रूप सामने आये हैं। अब इसे एक सृजनशील आंदोलन की संज्ञा मिल गयी है और इसे इसके मूलरूप के परिपेक्ष्य में उसी प्रकार देखा जा सकता है जैसे बोतीसिली की वीनस् (24) को वीनस दी मेंदिकी (25) के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। हम जानते हैं कि बोतीसिली की वीनस इतनी छरहरी, अधिक जीवंत और उत्कंठित क्यों है। हमें यह भी मालूम है कि बोतीसिली की कल्पना का प्राणतत्व समकालिक संस्कृति से आया था।

रुचि का एक लक्षण यह होता है कि यह संक्रामक होती है। जालरंध्र का मूल तत्व इस बात में निहित होता है कि यह एक आवृत्तिमूलक पैटर्न होता है और यद्यपि प्रत्येक आवृत्ति वाह्य तत्वों—आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, जलवायुकि आदि—से प्रभावित होती है फिर भी ये तत्व किसी एक व्यक्ति पर ही परिचालित हो सकते हैं। और वे विशिष्ट संवेदनाओं से युक्त व्यक्ति जो इनके प्रति संवेद्य होते है स्वयं ही ऐसे तत्व बन जाते हैं जो पूरे वातावरण को प्रभावित करते हैं।

इतिहासकार काल-गति का उल्लेख करते समय ऐसे तत्वों की ओर संकेत करते हैं जिनका संबंध तात्कालिक मनीषा से होता है। ऐसे तत्वों का कोई न कोई स्रोत अवश्य होता है। विचारों का जन्म व्यक्तिगत मस्तिष्कों में हुआ होगा—कभी-कभी एक ही व्यक्ति के मस्तिष्क में। और जब जक वे पर्याप्त क्षेत्र में आग की भाँति फैल नहीं जाते तब तक उन्हें काल-गति का अंग नहीं माना जाता। उनके फैलने की गति जलनशील वातावरण पर निर्भर करती है। कारणो के अध्येता के लिए कालगति का परीक्षण अत्यंत कठिन होता है क्योंकि ज्यों ही वह एक कारण को परखना प्रारंभ करता है त्यों ही वह किसी दूरस्थ कारण के प्रभाव के रूप में बदल जाता है। एक बार इस अग्निकाण्ड के प्रारंभ होते ही रुचि के इतिहास का एक नया चरण प्रारंभ हो जाता है। यह बता पाना संभव नहीं कि किस बिंदु पर अनेकों व्यक्तिगत चेतनायें समूह-चेतना में बदल जाती हैं। उदाहरण के लिए ऐसी तिथि नहीं निश्चित की जा सकती जब मुट्ठी भर इतालवी चित्रकारों ने इतालवी पुनर्जागरण को जन्म दिया था। 'पुनर्जागरण' शब्द इतिहासकार की इस स्वीकारोक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कि चलनी असाधारण फुर्ती के साथ अपने जालरंध्रों को बदल रही थी और यह महत्वपूर्ण है कि इतिहासकार जितनी सूक्ष्मता के साथ काल-गति का अध्ययन करते हैं उतना ही पीछे उसकी तिथि निश्चित की जाती है। उनका ध्यान सर्वप्रथम इसका पूर्ण पुष्पण, इसकी पूर्ण एवं सर्वाधिक चमत्कृत करने वाली अभिव्यक्तियाँ खींचती हैं। इतावली पुनर्जागरण सामान्यतः पुनर्जागरण की पराकाष्ठा के पर्याय के रूप

मे प्रारंभ होता है और ऐसा मान लिया गया कि इसका प्रारंभ लियोनार्दो औ: टिटोरेटो के साथ हुआ। लेकिन जल्दी ही यह अनुभव किया गया कि लियोनार्द की व्याख्या की जानी चाहिये। शोध के द्वारा फूल के पीछे कली का ज्ञान होत है, फिर कली के पीछे जड़ और परिणामत: पुनर्जागरण का उद्गम-स्थल मध्य-काल में मिलता है। इस प्रकार रुचि की परिभाषा निरंतर नये मिश्रणों को पैदा करने वाले परिवर्तनशील पैटर्न के रूप में की जा सकती, जो निरंतर नये प्रभावो के प्रति संवेद्य होता है और पुराने प्रभावों को निरंतर झाड़ता रहता है।

लेकिन सुविधा के लिए एक सामान्य प्रारंभ-बिन्दु निश्चित कर लेना आवश्यक है, क्योंकि अपने यात्राक्रम में मील के पत्थरों के अभाव में मानवीय मस्तिष्क चिढ़ जाता है। आज पुनर्जागरण का प्रारंभ लियोनार्दो के बजाय जियोतो से माना जाता है और पुनर्जागरण मानववाद का प्रारंभ असीसी के संत फ्रांसिस से माना जाता है। यह अभी भी परखा नहीं गया कि किस प्रकार जियोतो द्वारा सुलगायी गयी चिनगारी एक शताब्दी तक सुलगती रही और फिर अगली शताब्दी मे उत्तरी इटली के विचारों और भावनाओं को प्रज्वलित की। जियोतो को किसी चीज' से नये अनुभवों का संकेत मिला रहा होगा और उसी 'किसी चीज' ने अगली शताब्दी के चित्रकारों को नयी संभावनाओं को शोषित करने के लिए प्रेरित किया। 15वीं सदी के अंत तक यह इतना व्यापक हो गया कि इसे किसी असाधारण प्रतिभा के आश्रय की आवश्यकता नहीं रह गयी। वस्तुत: समस्या उठ खडी हुइ इससे बचने की जिसके लिए असाधारण अनुदारवादिता की आवश्यकता थी। एक बार पुनर्जागरण के अपने पूरे चढ़ाव में होने पर घटिया कलाकार के लिए भी महानता प्राप्त करना आसान हो गया है। इतिहास के अंतरालों पर माध्यम के नियम के अनुसार प्रतिभायें पैदा होती रहती हैं लेकिन उनके पल्लवन और पुष्पण के लिए आवश्यक जमीन पर्यावरण प्रदान करता है। काल-चेतना का सर्जक कलाकार होता है लेकिन काल-चेतना भी उसे सृजित करती है।

रुचि की छलनी जितना संचारित करती है उससे कहीं अधिक त्याग भी देती है। इस बात का पता लगाना मुश्किल है कि उपलब्ध अनुभव का कितना अंश एक समय में समाज-रचना स्वीकार करती है। यदि हम इंद्रियबोध और प्रत्यक्षबोध के बीच के अंतर को ध्यान में रखे तो ऐसे इन्द्रियबोधों की संख्या जिनका प्रत्यक्षबोध करने में हम सक्षम होते हैं नगण्य ही होगी; यह हमारे सभी प्रत्यक्ष-बोधों पर लागू होता है लेकिन विशेष रूप से कर्ण और चाक्षुष बोधों पर लागू होता है। इंद्रियबोध को प्रत्यक्षबोध में बदलने वाला गुण होता है, सुख देने की इसकी क्षमता, या यूँ कहें कि प्रसन्न होने की हमारी क्षमता। दूसरी ओर यह मारी क्षुधा की वृत्ति है और हमारी क्षुधा को जो कुछ भी शांत करता है उसे

हम 'सुंदर' की संज्ञा दे देते हैं। चलनी से जो कुछ भी बाहर जाता है वह अपने सच्चे रूप में सुंदर होता है। रुचि की अवधारणा चलनी के स्वामी के मस्तिष्क में कभी नहीं आती। वह पीढ़ी जो बड़े आनंद के साथ नुकीली मेहराबों और अथवा ऊर्ध्वाकार लयों पर चिंतन भर कर सकता है और जो वृत्ताकार मेहराबो और क्षितिजीय लयों में कोई स्वाद नहीं पाता उसे इस बात का शायद ही पता रहता हो कि वह चाक्षुष अनुभव के एक नितांत सीमित पक्ष के प्रति संवेदनशील है—कि मोड़ों और लयों की जितनी मात्रा उसकी चलनी से छन कर बाहर आता है वह उन मोड़ों और लयों का एक अत्यंत ही अल्प अंश होता है जो वास्तव में अस्तित्व में होते हैं। इसे केवल इतना मालूम होता है कि कुछ कुरूप सुंदर होते हैं, कुछ कुरूप और अधिकांश उपेक्षणीय। इसे यह भ्रम रहता है कि जो इसके लिए सुंदर है वही पूर्ण सौंदर्य है। हमारी इस कमजोरी का नतीजा यह होता है कि हमारे 'तथाकथित' सुंदर अनुभव, मात्रा एवं परिमाण में अत्यंत सीमित ही होते हैं। लेकिन अतीत की रुचि के प्रति हमारा दृष्टिकोण जिसे हम समझ सकते है लेकिन जिसके भागीदार हम कभी नहीं हो सकते, वर्तमान के रुचि-बोध के प्रति हमारे दृष्टिकोण से अनिवार्यतः भिन्न होता है क्योंकि यह हमारे अस्तित्व का एक अविभाज्य अंग होता है।

यही कारण है कि समकालीन काल-गति का जिक्र करते समय 'सुरुचि' का प्रश्न खड़ा हो जाता है। सुलझे हुए और संवेदनशील व्यक्ति, जिनके निर्णय वैसे संतुलित होते हैं, बराबर यह संकेत करने के लिए व्यग्र रहते हैं कि उनके तत्काल समकालीनों की कृतियों में क्या अच्छा और क्या बुरा है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वह व्यक्ति जिसने सुरुचि और कुरुचि में भेद करने का बीडा उठाया था, केवल अपनी ही रुचि का शिकार भर नहीं था अपितु एक ऐसे घातक तत्त्व की जकड़ में था जिसे 'फैशन' कहा जाता है।

फैशन और रुचि में परिमाणात्मक भेद तो है लेकिन जातिगत भेद नही। इसके पहले शिकार 'हवा के रुख' को पकड़ने वाले कलाकार न होकर वे सवेदनशील, सृजन-रहित व्यक्ति होते जो उनके छूत के शिकार हो जाते हैं। इसके प्रचारक दूसरी कोटि के कलाकार होते हैं जो इन संवेदनशील परंतु सृजन-रहित व्यक्तियों से प्रेरणा ग्रहण कर मौलिक भाव की शुद्धीकृत, वंध्या प्रतिकृतियो का सृजन करते हैं। फैशन और रुचि में प्रधान अंतर गति का होता है—उस गति में जिसमें चलनी के जालरंध्र नवीनतम प्रभावों के प्रति क्रियाशील होते हैं। और इसी कारण हमारे सौंदर्य-बोध पर जो कुछ घटित होता है उसका अत्यन्त ही विस्तृत, परंतु सामान्यीकृत वृत्तांत फैशन हमें प्रदान करता है, रुचि नहीं। यही

नहीं कि फैशन का पेंडुलम रुचि के पेंडुलम की अपेक्षा अधिक तीव्रता से घूमता है; यह अधिक हिंस्रता के साथ घूमता है। यह निर्णय कर लेने के पश्चात् कि अमुक गुण वांछनीय है यह उस गुण को अन्य गुणों से विच्छेद कर उन्हें त्याग देता है। यदि सादगी का जोर है तो यह सभी प्रकार के अलंकारों को त्याग देता है, यदि वर्गाकार आकृतियों का चलन है तो सब कुछ वर्गाकार होना चाहिये, यदि रेखा की सौम्यता का चलन है तो शैम्पेन के बोतल की गर्दन आदर्श बन जाती है। इस अतिवादिता का परिणाम यह होता है कि फैशन आँख के यंत्र-विन्यास में एक निरर्थकता जड़ देता है और फिर ऐसी क्रांतियाँ पैदा करता है जैसा रुचि नही कर सकती। कल की चलन आज पुरानी पड़ जाती है। 'कुरुचिपूर्ण' का सामान्य अर्थ होता है 'चलन में न होना' न कि 'चलन में न होने वाले का एक खराब उदाहरण'। लेकिन केवल इसीलिये कि फैशन की गति रुचि की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है अतः अनुवीक्षक के लिए इसका परीक्षण अधिक सरल और सुविधाजनक होता है। यही कारण है कि काल-गति के अध्येताओं ने रुचि की अपेक्षा फैशन पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। विशेष रूप से यह छूत की प्रक्रिया के अधिक साक्ष्य भी प्रस्तुत करता है। मौलिक सृजनधर्मी कलाकार जो रुचि की सभी अभिव्यक्तियों का मूल होता है सर्वप्रथम अपना प्रभाव संवेदनशील, सृजन-शक्तिरहित व्यक्ति तक प्रेषित करता है जिससे यह दूसरी कोटि के कलाकारो द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है जो इसे अपनी निर्मित वस्तुओं और निम्नकोटि की कृतियों द्वारा समाज के उस वर्ग को प्रेषित करता है जो इसके प्रति अधिक आकर्षित होता है। यह सर्वप्रथम उन वस्तुओं में प्रकट होता है जिनकी निर्माण विधि मे कम से कम परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है—टेक्सटाइल उत्पादनो और भित्ति-चित्रों में इसका प्रभाव फर्नीचर और बर्तनों की अपेक्षा अधिक तीव्रता से आता है। लेकिन क्रमशः जीवन की सम्पूर्ण चाक्षुष पृष्ठभूमि बदल जाती है। इसकी प्रारंभिक मांग कम और कीमतें उस अनुपात में अधिक होती हैं। एक बार इस मांग के प्रारंभ हो जाने पर यह प्रथम छलांग में साधारण समृद्ध बुद्धिजीवियो तक पहुँचती है क्योंकि अति समृद्ध लोगों के पास पहले से ही ऐसी वस्तुयें होती हैं जिनकी दुर्लभता के कारण उनका अत्यधिक मूल्य होता है। फिर यह छूत नीचे की ओर फैलती है और फिर धीरे-धीरे पूरे समाज में व्याप्त हो जाती है। लेकिन इस विस्तार में आर्थिक स्थिति और भौगोलिक दूरी भी नियामक तत्वों के रूप में कार्य करते हैं। आज पूरा विश्व एक सांस्कृतिक इकाई नहीं है और तमाम ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ यह संक्रामकता बेअसर हो गयी है।

लेकिन क्या यह संभव है कि सभी अभिव्यक्तियों के लिये 'बुरे' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है? एक निरपेक्ष मूल्य के रूप में सौंदर्य का अन्वेषण

करने वालों के लिये एक केंद्रीय प्रश्न है । 'अच्छी' और 'बुरी' आकृतियों में भेद करना अपरोक्ष रूप में एक स्तर की ओर संकेत करता है, इससे एक अपरिवर्तनीय स्तर का भी आभास होता है। 'अच्छे' सादे आकार (जिससे यह ध्वनित होता है कि सादगी अपने आप में एक गुण है और सादगी और सौंदर्य एक दूसरे के पर्याय हैं) की बात करना मूर्खता है जब कि हम जानते हैं कि अतीत की अनेको शताब्दियों में उलझी हुई आकृतियाँ बनी थीं और वे भी अच्छी थीं । यह स्वीकार करते हुये कि हम एक ऐसे सौंदर्यमूलक अभिवेचन की दया पर निर्भर करते हैं जो समाज के किसी वर्ग में, किसी प्रदत्त क्षण में, केवल एक ही प्रकार के सौंदर्य को स्वीकार करता है क्या यह संभव नहीं कि दो प्रदत्त वस्तुओं में से एक दूसरी की अपेक्षा **अपने प्रकार की अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट** वस्तु नहीं ?

निश्चित ही सौंदर्य और वृत्ति दोनों दृष्टि से 'निकृष्टि' नाम की चीज होती है । और ऐसे संगठनों का भी महत्त्व है जो कलाकारों द्वारा उत्कृष्ट आकृतिया बनाये जाने और जनसमूह में 'उत्कृष्ट रुचि' के प्रसार के लिये कार्य करते हैं । लेकिन यह संदिग्ध अवश्य है कि उन्हें अपने उद्देश्यों का ठीक-ठीक ज्ञान होता है ।

संभवत: साधारण समृद्ध वर्ग के व्यक्तियों द्वारा संचालित इन संस्थाओं का कार्य है छून की प्रक्रिया में तेजी लाना और यह देखना कि फैशन यथासंभव गति के साथ फैले । यह भ्रम कि पिछली पीढ़ी में उत्कृष्ट रुचि का अभाव था और हमारी पीढ़ी के कुछ प्रबुद्ध लोगों को ही इसका सौभाग्य मिल पाया है काफी लाभदायक है । उत्कृष्ट रुचि के पैगम्बरों को इस बात से धक्का अवश्य लगेगा कि वे एक भ्रम के शिकार हो गये हैं । 'आधुनिकतम' की उनके द्वारा वकालत और अनद्यतन के प्रति उनकी घृणा दोनों मंद पड़ जायेंगे । उत्साह और घृणा दोनों प्रेरक शक्तिया हैं, इनके बिना बदलाव के पहिये की गति मंद पड़ जायेगी और बिना परिवर्तन के हम एक घातक भावशून्यता में डूब जायेंगे । फिर भी, यद्यपि विकास के लिये बदलाव आवश्यक है तथापि इसे 'सुधार' का पर्याय नहीं माना जा सकता। और यदि रुचि के प्रश्न का वस्तुपरक दृष्टि से परीक्षण किया जाना है तो इस बात का ध्यान रखना ही होगा कि इसमें भ्रम की भी भूमिका होती है।''''

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस भ्रम—अद्यतन के प्रति स्वाभाविक लगाव और अनद्यतन के प्रति उतने ही स्वाभाविक दुराव—के कारण सौंदर्य निर्णय में उत्कृष्ट रुचि और निकृष्ट रुचि नाम की कोई चीज नहीं होती । पहले ही कहा जा चुका है कि एक समकालिक द्वारा प्रयुक्त 'निकृष्ट रुचि' का तात्पर्य 'चलन से बाहर' ही अधिक होता है और 'चलन का निकृष्ट उदाहरण' कम, फिर भी चलन के निकृष्ट उदाहरण हैं और उन्हें परखना सरल है ।

यदि कला का आधार प्रेम और प्रकृति का आधार दक्षता है तो कला में 'उत्कृष्टता' का आधार कलाकार के प्रेम की गहराई और गहनता है और प्रकृति की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी दक्षता की सीमा है। प्रकृति का एक अंश होने के कारण हम मानव उसकी दक्षता पर निर्णय नहीं दे सकते लेकिन इतना हम जानते हैं कि प्रकृति के अनेक प्रयोगों को त्याग दिया गया है क्योंकि उनमें दक्षता नहीं थी। प्रकृति का अपना कूड़ादान है जिसमें उसकी असफलतायें छिप जाती हैं और प्रकृति की निकृष्टता के उदाहरण हमें तभी दृष्टिगोचर होते हैं जब दक्षता के दो प्रयास आपस में टकरा कर एक दूसरे को नष्ट कर देते हैं।

यहां यह विचारणीय है कुछ मनुष्य-निर्मित वस्तुओं का निर्माण प्रकृति की योजना के अनुरूप हुआ है। एक हंसिये के आकार का कारण पूर्णरूप से इसकी दक्षता है, इसके रचना-विधान में प्रेम की कोई भूमिका नहीं रही है, इसको सौंदर्य देने के किसी भी प्रयास ने इसकी दक्षता को नष्ट कर दिया होता। लेकिन ऐसी विशुद्ध वृत्ति-मूलक वस्तुयें बहुत कम हैं। लेकिन यदि प्रकृति की निकृष्टता इसकी वृत्ति मूलक असफलता का परिणाम है तो कला में यह निकृष्टता प्रेम की असफलता का परिणाम। यही एक संभव कसौटी है और यदि प्रेम को परखना उतना ही आसान होता जितना दक्षता को परखना, तो आलोचकों द्वारा की गयी त्रुटियों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती और उत्कृष्ट तथा निकृष्ट रुचि से संबंधित अंतहीन विवाद स्वीकृतियों के अनुक्रम के रूप में बदल जाते। ऐसी स्वीकृतियां उन भ्रांतियों को मिटा देतीं जो प्रेम्य वस्तु की प्रजाति संबंधी भिन्नताओ पर आधृत होती हैं और हमें 'उत्कृष्ट' अथवा 'निकृष्ट' की असली जड़ों को परखने के लिये आज़ाद कर देतीं। प्रेम की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता उसकी गहनता के विभिन्न बिंदुओं की ओर संकेत करते हैं।

इस प्रकार ग्रहण किये जाने पर उत्कृष्ट रुचि अथवा निकृष्ट रुचि जैसे शब्द-समूह दो परिवर्तनीय परिमाणों का अर्थ देंगे—निर्णय-गत कलाकृति की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता (यह कुरुचिपूर्ण है) और निर्णायक की विकसित अथवा अविकसित संवेदनशीलता (उसकी रुचि घटिया है)। उत्कृष्टता की विभिन्न परिमाणों वाली कृतियों को जन्म देने वाली प्रेम की विभिन्न गहनताओं का उल्लेख हम कर चुके हैं। अब हम इन परिमाण-मूलक भिन्नताओं की पहचान करने वाले निर्णय की क्षमता पर विचार करेंगे। इनमें अंतर करने के लिये एक विकसित संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है। इसी अर्थ में 'उत्कृष्ट रुचि' शब्द समूह का कोई अर्थ हो सकता है।

●

कान्स्टैबल हेडलाइट कैसल नेशनल गैलरी, लन्दन

6 : टिटियन, 'क्राइस्ट क्राउन्ड विद थार्न्स'

7 : अ रेम्ब्रां, ड्राइन्ग

7 : ब लियोनार्दो द विन्सी, ड्राइन्ग

14 : टिटियन, पेसारो मेडोना
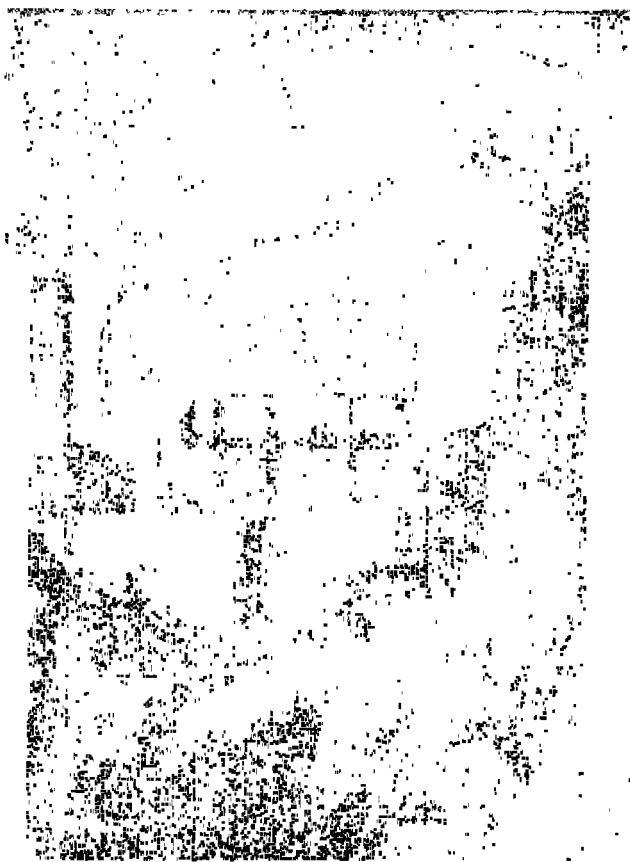
17 : जार्जियोनी, 'द टेम्पेस्ट'
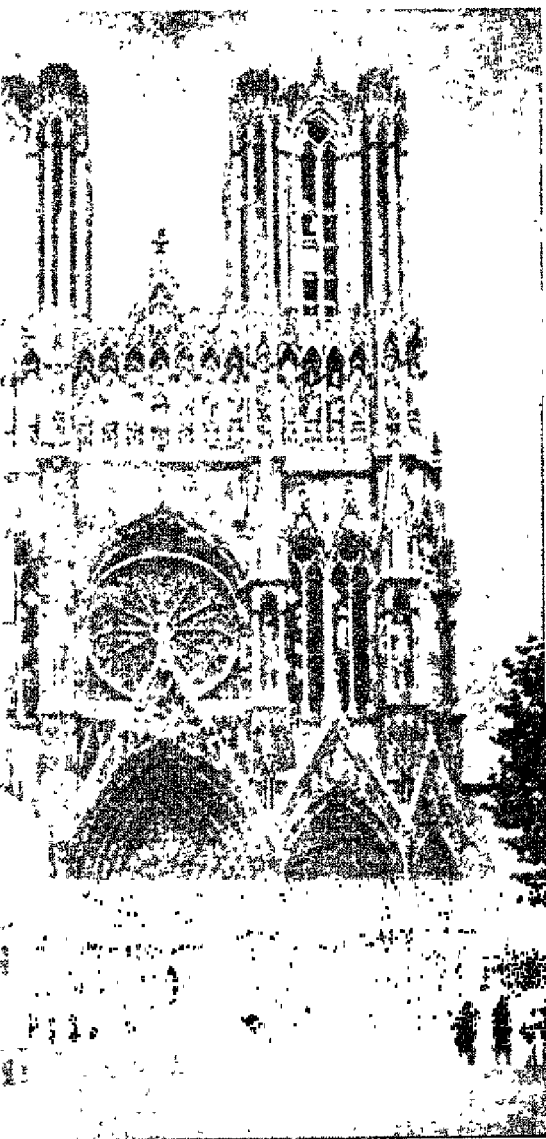
19 : रीम्ज केथेड्रल

22 : क्रिवेली, 'वर्जिन एण्ड चाइल्ड इन्थ्रोन्ड'

: अ पिकासो, 'पोर्ट्रेट 12 अक्टूबर 1941'

32. वान गॉग 'कार्नफील्ड'

40. डुशियो, क्राइस्ट अपीयरिंग टु द अपासल्स'
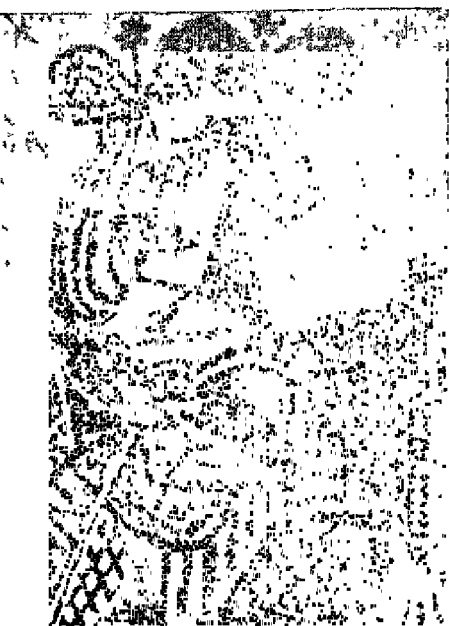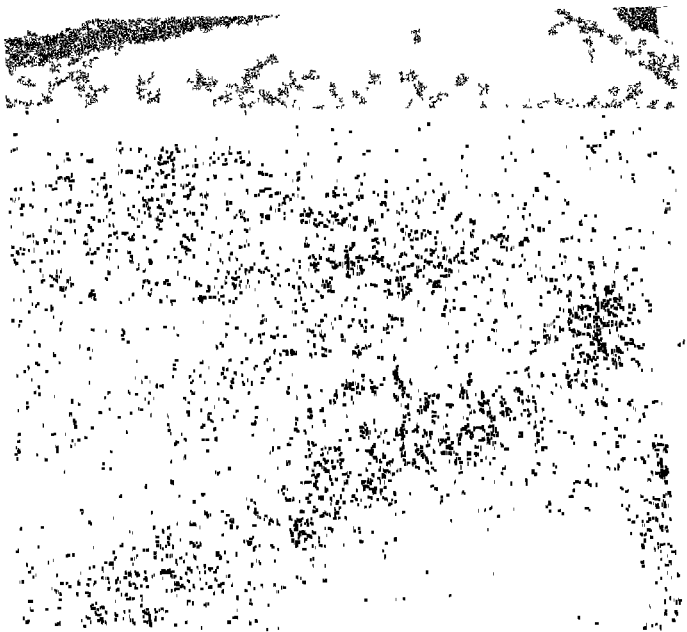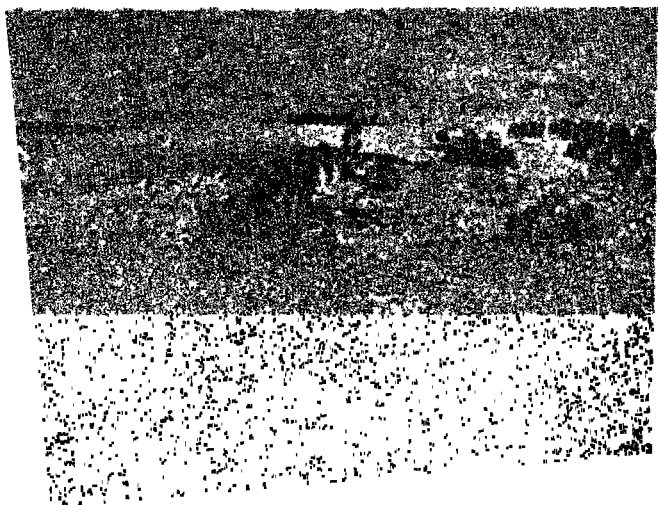
47. चीनी स्टिल लाइफ

सुरुचि, समकालिक कला, रूपविधान और विषयवस्तु

कलाकृतियों पर निर्णय करते समय सबसे दुर्भाग्यपूर्ण समस्या यह होती है कि प्रेम की प्रामाणिकता अथवा गहनता को मापने का कोई ऐसा साधन हमारे पास नहीं होता जो सर्वमान्य अथवा असंदिग्ध हो। दूर अतीत की कृतियों पर भावी पीढ़ियों के निर्णय स्पष्ट एवं असंदिग्ध होते हैं। प्राचीन प्रतिभाओं के विषय मे सञ्चित विचारों का काफी वजन होता है और वे लोग जो भावी पीढ़ियों के किसी विशेष निर्णय को स्वीकार नहीं कर पाते अपनी समझ को ही दोष दे सकते हैं। लेकिन तत्काल अतीत और वर्तमान की कला के विषय में स्थिति बदल जाती है।

मैं जहाँ बैठ कर यह लिख रहा हूँ वहाँ से काफी दूर तक हरे-भरे मैदान दिखाई दे रहे हैं। थोड़ी दूर पर खेत है जहाँ से अभी-अभी फसल काटी गयी है। सैकड़ों कलाकारों ने ऐसे विषय पर चित्र बनाये हैं जो स्मरणीय हैं, कुछ कलाकारों का कार्य उतना स्मरणीय नहीं क्योंकि वे इसके सौंदर्य को पकड़ तो पाये हैं लेकिन दर्शक से अपनी बात मनवाने में वे असफल रहे हैं और यह असफलता तकनीकी कौशल की कमी के कारण नहीं हुई है।

इस प्रकार के दृश्यों का स्मरणीय चित्रांकन ब्रूफेल, टर्नर, कांसटेबल, लिनेल (31), मॉनेट, वान गॉग (32) और ड्यूफी (33) के चित्र हैं। इस स्मरणीयता का कारण पूछे जाने पर मैं फौरन जवाब दे सकता हूँ कि इनके पास 'कल्पना' जैसी कोई चीज थी जो अन्य अस्मरणीय कलाकारों के पास नहीं थी और मैं अपनी 'सुरुचि' की बदौलत उनकी कल्पना की पहचान कर उसका आनंद उठा लेता हूँ। अपनी बात में मैं इतना और जोड़ सकता हूँ कि कल्पना मात्र दृष्टिगत अनुभव के पार निकल जाती है और यदि मैं परिदृश्य का इतिवृत्तात्मक चित्र चाहता हूँ तो मेरे लिए कैमरा यह काम आसानी से कर सकता है। लेकिन इस प्रकार की व्याख्या बेमतलब ही होगी।

कल्पना वास्तव में मस्तिष्क की एक संवेगीकृत स्थिति होती है, उत्साहों और अवसादों का एक ऐसा अनुक्रम जिसे केवल चाक्षुष पद्धति से ही व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार सुरुचि मस्तिष्क का वह ग्रहणशील दृष्टिकोण है जो कलाकार के चाक्षुष अनुभव के माध्यम से कल्पना तक परिचालित होता है। यह वास्तव में किसी कलाकृति को समझने की शक्ति और समझ कर कृति के लिए कारणभूत प्रेम में शामिल होने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। प्रेक्षक की रुचि को सुरुचि तभी कहा जा सकता है जब वह कलाकार के प्रेम में उसका सहभागी बन सके। लेकिन सहभागी बनकर वह इस पर निर्णय दे सकता है। यदि मैं लहराते हुये खेतों के प्रति लिनेल के दृष्टिकोण की अपेक्षा वानगॉग के दृष्टिकोण को अपने अधिक निकट महसूस करता हूँ तो केवल इसलिये कि वानगॉग के स्वभाव और मेरे स्वभाव में कुछ सादृश्य है। लेकिन उसकी दृष्टि की गहनता से इसका कोई संबंध नहीं है और मैं यदि यह स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया जाऊँ कि यद्यपि लिनेल मेरे लिये ज्यादा सुखद है (जो एक आत्मगत निर्णय है) और वानगॉग का वक्तव्य अपेक्षाकृत अधिक भावप्रवण, अधिल विश्वासयुक्त, अधिक एकाग्र है (जो कि एक वस्तुनिष्ठ निर्णय है) तो मुझे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि वानगॉग लिनेल से श्रेष्ठ कलाकार है।

ऐसी स्थिति में निष्कर्ष यही निकलता है कि मेरी रुचि ठीक नहीं क्योंकि मेरे आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ निर्णय में अन्तर्विरोध है और पूरी समझ असंभव है। इस बिन्दु पर रुचि और फैशन के अन्तर को अधिक सूक्ष्मता से परखना आवश्यक है। रुचि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलाकार के संवेगात्मक भाव को समझने और उसमें सहभागी बनने की शक्ति का नाम है। और अतीत के कलाकारों के संबंध में ऐसा करना आसान होता है क्योंकि उनकी कला का विशुद्ध स्थानीय एवं क्षणिक रंग अब तक धुल चुका होता है। 1512 में सिस्टाइन चैपेल की भीतरी छत रोमनों को इसलिए आकर्षक लगी थी क्योंकि यह बिल्कुल नवीन थी। किसी भी कलाकार ने उस समय तक ऐसी अवधारणा नही की थी और इसका प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि लगभग एक शताब्दी तक इस प्रकार का फैशन चल पड़ा। इसी फैशन के प्रभावस्वरूप ऐसा अवश्य लगता है कि माइकेलऐंजिलो के नकलचियों ने अपने गुरु को भी मात कर दिया था। वेसारी, ब्रोंजिनो, पांतोर्मो और अन्य कलाकारों ने माइकेलएंजिलो से कहीं अधिक कुशलता से अपना कार्य किया था (28, 29)।

हम पहले ही कह चुके हैं कि सौंदर्य के लिये अपरिचय का तत्व आवश्यक होता है और माइकेलएन्जिलो में इसका प्रतिशत बहुत अधिक है। आज उसके चित्रों की नवीनता हमारी रुचि का अंश बन गई है। वे व्यग्रकारी उत्साह और

घृणाभाव जो फैशन के साथ हमेशा जुड़े रहते है अब पीछे छूट चुके हैं और उसके चित्रों के समयातीत मूल्य ही शेष रह गये हैं। आज हम माइकेलएन्जिलो को ऐसे व्यक्ति के रूप में जानते हैं जिसने मानव देह के प्रति एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया था क्योंकि वह इसके मांसल पौरुष को बहुत गहनता से प्यार करता था। उसके अनुकरणकर्त्ताओं में सत्य और असत्य में भेद करना नहीं आया था। उनके भित्त चित्रों के तड़पड़ाते हुए मानव धड़ उन चम्मचों के समकक्षी है जो वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक के दौरान क्यूबिस्ट फैशन में समकोणीय हो गये थे। 15वीं और 16वीं सदी की कला पर हम रुचि की कसौटी लगा सकते हैं लेकिन 19वी और 20वीं सदी की कला तक आते ही हम फैशन के शिकार हो जाते हैं। हम लिनेल और वानगॉग की तुलना नहीं कर पाते उनके चित्रों में हम परिचय के विभिन्न परिमाण देखते हैं लेकिन समझते यह है कि हम कलात्मक गुणों की परख कर रहे हैं। वानगॉग की असाधारण नवीनता की चकाचौंध में हम उसके असली गुणों को नहीं जान पाते। हम जानते हैं कि उसके चित्र अभी हाल तक फैशन मे थे लेकिन धीरे-धीरे वे चुक रहे हैं। लिनेल का अब फैशन नहीं रहा, वह आज भी फैशन से बंधा हुआ है। फैशन के दो चरण होते है—एक सकारात्मक जिसके अनुसार नवीन के प्रति अपनी दकियानूसी के अनुपात में हम अत्यधिक भावप्रवण होकर पक्ष अथवा विपक्ष का समर्थन करते हैं और दूसरा नकारात्मक जिसमें भावप्रवण आसक्ति तो होती है लेकिन चूँकि यह नवीनता का प्रतिमूल होता है अतः इसके प्रति हम स्वभावत असहिष्णु हो जाते हैं। यह फूहड़ होता है। रुचि के क्षेत्र में हम नवीनता अथवा इसके विलोम से संबद्ध नहीं होते।

रुचि के अध्ययन से सबसे मजेदार बात जो सामने आती है वह है फूहड़पन के बीच से एक के बाद दूसरे कलाकार का उदय। लगभग आधी शताब्दी तक उपेक्षित रहने के पश्चात् सेमुअल पामर (36) एक बार फिर चर्चित हो उठा है। उस पर अंतिम निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। उसके गुणो को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा रहा है। उसका उसी प्रकार स्वागत हो रहा है जैसे जेल से छूटे हुये किसी आदमी का। महाकवि ब्लेक के साथ उसके संबंधों ने उसे और अधिक महत्व दे दिया है। लेकिन उसका आक्रोशपूर्ण रोमाण्टिक भाव और ग्राम्य शांति की उसकी विचित्र मनोदशा वर्तमान पीढी में उसे बहुत अधिक प्रिय बना रहे हैं। लिनेल भी धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहा है। कुछ दिन पहले तक शायद उसे अविस्मरणीय परिदृश्य चित्रकारों की सूची मे शामिल न किया जाता लेकिन आज उसके चित्रों में ग्रामीण गर्माहट और हरियाली के प्रति मोह के दर्शन होते हैं जिन्हें सामान्यतः सेमुअल

पामर के साथ जोड़ा जाता है। उसने भी दृश्य और अनुभूत जगत को एक दूसरे से अलग करने वाले आवरण का एक कोना उठा दिया है। दृश्य-संसार और मानस-संसार दोनों का महत्व बराबर होता है और वे समान रूप से वैध होते हैं। कलाकारों में एक अथवा दूसरे के भीतर भ्रमण करने की शक्ति में सदैव अंतर रहा है। दोनों संसारों के बीच एक पर्दा होता है जिन्हे कलाकार हटा सकता है लेकिन वैज्ञानिक नहीं। दोनों संसारों की तुलना करने के बजाय दोनों के बीच समझौता करने का प्रयास होना चाहिये, नहीं तो इन्द्रियों का संसार मापनीय होने के बावजूद निरर्थक हो जाता है और यह समझौता केवल कलाकार ही करा सकता है। और मानस संसार तब तक वजूद में नही आता जब तक इन्द्रियों के रास्ते उस तक जाने की कोशिश न की जाय। मेरे विचार से यथार्थ तत्वों का एक अनुक्रम है जो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा व्याख्यायित होने के लिये प्रतीक्षारत रहता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यथार्थ छायाओं का एक ऐसा पुंज होता है जो पर्दे पर अदृश्य लेकिन अधिक 'यथार्थ' संसार द्वारा उत्पन्न होता है जिसका निर्णय छायाओं के व्यवहार के आधार पर ही किया जा सकता है। दोनों अवधारणायें रूपक से अधिक कुछ भी नहीं लेकिन दोनों पर्दे के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं—अर्थात् वैज्ञानिकों का तथ्यों का संसार और कलाकारों का मूल्यों का संसार एक दूसरे से एक पर्दे से अलग रहते हैं।

इस पर्दे को उठाने की शक्ति ही 'कल्पना' का रहस्य है। इसके बिना सारी कला बेकार हो जाती है फिर वह चाहे वेलाज़क्वीज़ जैसे यथार्थवादी की कला हो या फिर पिकासो जैसे विशुद्ध रूपवादी की कला। वह अज्ञात को ज्ञात के परिप्रेक्ष्य मे व्याख्यायित कर सकता है या फिर उस अज्ञात की एक चित्रात्मक प्रतिकृति प्रस्तुत कर सकता है। गुजरते हुए वक्त के पश्चात् भावी पीढ़ी उसकी शैली के स्थान पर उस पूर्णता को दृष्टि में रखकर निर्णय करेगी जिसके द्वारा वह अपनी आंतरिक दृष्टि को व्यक्त करता है। पर्दा तो रहेगा ही और अनेकों घटिया प्रतिभायें इसको उठाने में असफल होकर हमें प्रभावित नहीं कर पायेंगी। वे हमारे जिदगियों को विस्तार नही दे पायेंगे, क्योंकि उनके अपने जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं था जो हमारे जीवन में भी न रहा हो। अधिक-से-अधिक हम उनकी कलाबाजी की तारीफ भर कर सकते हैं। लेकिन ज्यों-ज्यों हम अपने समय के निकट आते जाते हैं त्यों-त्यों हम यह जानने में कम-से-कम सफल हो पाते है कि हमारे समक्ष क्या पेश किया जा रहा है। कला की हमारी समझ आश्चर्यजनक हद तक हमारे कला के अनुभव पर निर्भर करती है। उस पर्दे के एक भी कोने का एक बार उठाया जाना उसका हमेशा के लिये उठाया जाना होता है। ज्ञात का वह विशिष्ट कोना हमेशा के लिये

अज्ञात के साथ अनुकूल हो जाता है और पूरी भावी पीढ़ी के लिये यह 'वही कभी भी नहीं रह जायेगा।'

अतीत के जिन कलाकारों ने इस पर्दे को हटाया है उनके द्वारा किया गया ज्ञात और अज्ञात का सम्मिलन हमारे लिये परिचित हो जाय इसके लिये काफी समय उनके पास था। जीवन की उनकी व्याख्यायें अब प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बन गई हैं। कलाकारों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण कभी अत्यंत नवीन थे, आज वे सामान्य हो गये हैं। वे सबके सब हमें प्रीतिकार न भी लगें तो भी उनकी विश्वसनीयता बनी रहती है। लेकिन आज का कलाकार हमारे सामने कुछ ऐसा पेश कर रहा है जिससे हम पूर्णतया अपरिचित हैं। उसकी कृति में अपरिचय की इतनी अधिक मात्रा रहती है कि उसकी वैधता को स्वीकार करना मुश्किल हो जाता है। भावी पीढ़ी ने इस पर अपना निर्णय नहीं दिया है। हमारी रुचि की चलनी अपने जालरंध्र से इसे झरने नहीं देगी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रत्येक कलाकार एक पूर्णतया नये संसार को पैदा करता है, महान कलाकार भी किसी-न-किसी परंपरा से कहीं-न-कहीं अवश्य ही जुड़े रहते हैं।

अपने समय में व्याप्त परंपरा में कलाकार एक निश्चित सीमा तक ही नवीनता जोड़ सकता है और मजेदार बात यह है कि यह सीमा कलाकार की प्रतिभा द्वारा निर्धारित न होकर उसके औचित्य बोध के द्वारा निर्धारित होती है—या यों कहें कि उसकी कलात्मक भद्रता द्वारा। कलाकार द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन या तो फालतू होते हैं अथवा निरर्थक लेकिन इससे इस बात का आभास अवश्य होता है कि उनके सिद्धान्त उनके द्वारा बनाये जाने वाले चित्रों से संबंधित होते हैं, जब कि यदि कोई लेखक कला की संभावनाओं पर विचार करने का जोखम उठाये तो वह ऐसी कृति की कल्पना करेगा जो वह स्वयं कभी नहीं बना पायेगा।

लियोनार्दो द विन्सी उन इने-गिने कलाकारों में से है जिसने इस प्रकार का अनुमान लगाया था, उसका मस्तिष्क विशुद्ध बौद्धिक अनुमान और सृजनशील कल्पना के बीच हमेशा तैरता रहता था और यह भी उसकी अनुमान बुद्धि की एक विशेषता है कि वह ऐसे चित्रों की अवधारणा करता रहा जिन्हें सृजित करने के लिये उसकी कल्पना तैयार नहीं थी। यह निश्चित है कि लियोनार्दो प्रकाश छाया चित्रण के अध्ययन को ही नहीं, अपितु उसके चित्रांकन को भी काफी आगे तक ले गया लेकिन उसके औचित्य बोध ने—उसकी रुचि ने, किसी छाया की परिरेखा को 'खोने' की आज्ञा कभी नहीं दी, यद्यपि उसकी तर्कबुद्धि को यह ज्ञात था कि परिरेखा हमेशा लुप्त हो जाती है, यद्यपि चित्रांकन का उसका समस्त सिद्धांत यथार्थवाद का पोषक था।

ऐसा लगता है कि सभी कलाकारों में कलात्मक औचित्य कलात्मक सभावनाओं से टकराता रहता है। और इसी टकराहट में फैशन सुस्थित परंपरा का साथ देता है। फिर भी कोई व्यक्ति अपने सौंदर्य बोध को फैशन से अधिक महत्व नहीं दे पाता। क्योंकि 'अपने को विशिष्ट बनाने में' वह 'रुचि नहीं' रखता। लेकिन कलाकार से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह सौंदर्य के भले के लिये विशिष्ट बनने से नहीं कतरायेगा।

चाक्षुप कलाओं का परंपरा का पोषण आश्चर्यजनक होता है। कलाकार और अधिक अन्वेषणशील क्यों नहीं होते इसका कारण यह नहीं कि वे नये विषयो और शैलियों को खोज नहीं सकते बल्कि असली कारण यह है कि वे ऐसा करना उचित नहीं समझते। उनकी खोजों में किसी-न-किसी अर्थ में वैधता का अभाव रह जाता है। परंपरा हमारे मस्तिष्क में आदतों, क्षुधाओं और घृणाओं को पैंदा कर देती हैं जो उन क्षुधाओं और घृणाओं की सममूलक होती हैं जो हमारे प्रकृति के अनुभव पर आधृत रहती हैं और जो हमारे लिये सौंदर्य के प्रतिमानो का निर्माण करती हैं। सेव गुच्छों के सौंदर्य से परिचित शिल्पी के लिये मटर-गुच्छो की कल्पना में कोई कठिनाई नहीं होगी। लेकिन एक नई भावदशा को अपने मस्तिष्क के समक्ष समर्पित करने के पश्चात् वह इसकी वैधता को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पायेगा क्योंकि उसके मस्तिष्क में इस नई भावदशा के लिये उपयुक्त आदत नहीं है। अभिकल्पक के सज्जा भंडार में अभिवृद्धि करने के साहसिक प्रयास हुए हैं, लेकिन अल्पकालिक स्वागत के पश्चात् ये प्रयास फैशन द्वारा अपने नकारात्मक चरण में अस्वीकार कर दिये गये हैं।

रुचि के सचेत क्लासिकी युगों में परंपरा के प्रति यह मोह कला-धर्म का प्रमुख अंग बन जाता है। लेकिन मौलिकताओं के लिये प्रसिद्ध युगों में कलाकार के उपर एक अनैच्छिक बंधन रहता है। ऐसे क्षणों में भी जब कलाकार खुल्लम-खुल्ला यथार्थ प्रभाव के चित्रांकन में लगा हुआ होता है तो भी इस उद्देश्य की ओर उसकी प्रगति मद्धिम ही रहती है।....प्रत्येक कलाकार दूसरे कलाकारों की कृतियो के स्मृति-बिंबों को अपने द्वारा अनुभूत जीवन के स्मृति बिंबों से क्यों अधिक-महत्व देता है? यह प्रश्न कला की प्रकृति पर काफी रोशनी डालता है। जीवन चाक्षुष-अनुभवों का एक विशाल भंडार पैदा करता है लेकिन यह पूरा का पूरा कर्म-संसार से संबंधित होता है अतः विशुद्ध चाक्षुष अनुभव के रूप में इसे अलग कर पाना कठिन हो जाता है। दूसरी ओर कलाकृति चिंतन के लिये होती है, इस प्रकार यह चाक्षुष अनुभवों में गहरे उतर जाती है। एक सचमुच की पत्ती सूँघी जा सकती है, छुई जा सकती है और यहां तक कि खायी भी जा सकती है और साथ ही इस पर मनन भी किया जा सकता है। चिंतनीय पदार्थ होने के

बावजूद भी यह वायु, प्रकाश और रंग के अनुरूप अपने को बदलती रहती है। लेकिन चित्रित पत्ती स्थिर और इसलिये स्मृति-योग्य होती है और यदि यह चित्रांकन किसी समकालिक कलाकार द्वारा किया गया है तो इसमें फैशन के वे सारे गुण होंगे जो इसे स्वीकार्य बना देते हैं। यह पत्ती वास्तव में प्रकृति से ली गई है और अपने अवचेतन मन में संभवत: कलाकार यही करना भी चाहा हो। अचेतन रूप से वह प्रकृति में वही पाता है जो उसके पूर्ववर्त्तियों को मिला था और इसमें उसका अपना अवदान बहुत ही कम होगा।

यदि कला का एक मात्र आधार कलाकार का अनुवीक्षण और अन्वेषण ही होता तो परंपरा शब्द का कोई मतलब ही न रहता। लेकिन अनुवीक्षण और अन्वेषण की न्यूनतम मात्रा के बिना परंपरा लंगड़ी हो जाती है। कला-इतिहास को एक निरंतर विकासमान पैटर्न के रूप में देखते हुए हम यह आसानी से जान सकते हैं कि महान् कलाकृतियों में परंपरा और मौलिकता के तत्व किस अनुपात में आये हैं। लेकिन समकालिक कलाकारों के विषय में रुचि के नियम फैशन के नियमों से दब जाते हैं। समकालिक कलाकार की कृति में जो कुछ भी समकालिक परंपरा के तत्व विद्यमान होते हैं वे हमारे लिये अछूते रह जाते हैं। जो कुछ उसका अपना होता है वह अत्यन्त ही व्यग्रकारी होता है और अंतत: अस्वीकृत कर दिया जाता है। यह अपनी वैधता धीरे-धीरे स्थापित करता है और एक बार स्थापित हो जाने के पश्चात् यह फैशन के नियम को बदल देता है और हमारे भीतर सौंदर्य मूलक क्षुधाओं के एक नये अनुक्रम को पैदा कर देता है। इस प्रकार फैशन सिद्धांत विकसित होता रहता है और नये तत्वों को ग्रहण करते हुए रुचि में परिवर्तित हो जाता है जब या तो वह निरर्थक हो कर लुप्त हो जाता है या फिर स्थित परंपरा की शृंखला में एक कड़ी बन जाता है।

यह प्रक्रिया जिसके द्वारा पर्दे का प्रत्येक उठा हुआ कोना अपनी वैधता प्रमाणित करता है बहुत ही रहस्यपूर्ण होती है। अचेतन आत्मसातकरण का एक विचित्र यंत्र-विन्यास अपरिचित के प्रति अपने को ढालने में और बिना किसी प्रयास के इसे आत्मसात् करने में हमारी सहायता करता है यद्यपि इसमें समय अवश्य लगता है। अपरिचित से एकाएक सामना होने पर पैदा होने वाला स्वाभाविक विकर्षण कला-इतिहास का एक सामान्य तथ्य है। ऐसा लगता है कि यह अभी-अभी पैदा हुआ कोई तथ्य है यद्यपि आज दुरुहता के कारण जिस कलाकार की निंदा की जा रही होती है कल उसे महान् प्रतिभा का धनी करार दिया जाता है। ऐसा होने का आंशिक कारण यह है कि कला-समीक्षा का इतिहास बहुत पुराना नहीं, 19वीं सदी के पहले आलोचक अपनी निंदा को शब्दों में व्यक्त करने के आदी नहीं थे। लेकिन एक दूसरा कारण भी है। गलत

समझी जाने वाली प्रतिभा आखिरी सौ वर्षों का एक विशिष्ट गुण है। वह रोमांटिक युग का उत्पादन है और इस पर विचार करने के लिये रोमांटिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

बेरानीज के संदर्भ में यह कहा जा चुका है कि रूप और विषय की समुच्चयी शक्ति ही कलाकृति का पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। लेकिन कलाकार की सवेगात्मक दृष्टि के रूप में, उसके द्वारा इच्छित वक्तव्य के सटीक सुगंध के रूप मे विषय अनिवार्यतः रूप को आदेश देता है। पूर्वनिर्मित रूप के भीतर इसे फिट करने की स्थिति में इसका प्रभाव छीज जाता है। परिणामतः काल-क्षय और सभ्यता के विकास के साथ जब इसकी सुगंध में बदलाव आता है तो रूप-परंपरा में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। लेकिन ऐसे युगों में जब सवेगात्मक सुगंध में अत्यधिक तेजी मे परिवर्तन हो रहे हों तो अंतराल पड़ जाना स्वाभाविक हो जाता है। रूप विषय का साथ नहीं दे पाता और इस प्रकार एकांगिता पैदा हो जाती है। या तो कलाकार पुराने माध्यम में नये सदेश को भरने की कोशिश करता है और इस प्रकार काल-दोष पैदा हो जाता है। या फिर अपनी कल्पना को व्यक्त करने के लिये वह अंधाधुंध प्रयोग करता है जिसका परिणाम होता है स्वच्छंदतावाद। कला में यह स्वच्छन्दतावाद अल्पकालिक ही होता है। यह तभी तक चल सकता जब तक कि नये संवेगों ने पुराने रूपों को पुराना नहीं बना दिया है। ज्यों ही नये विषय के अनुकूल रूप का आविष्कार हो जाता है क्लासिकी परंपरा प्रारंभ हो जाती है। यह स्वाभाविक ही है कि रूप और विषय के इस एकांतर प्रभाव की गति धीमी होती है और दोनों के पूर्ण सामजस्य की अवधि बहुत ही छोटी होती है। इस सामंजस्य-काल के पूर्व अथवा पश्चात् रुचि दो खेमों में बट जाती है। नियम, स्पष्टता और तर्क के भक्त रूप की उच्चता के प्रशंसक होते हैं। और कलाकार से संदेश की अपेक्षा करने वाले सवेगात्मक, प्रयोगशील चरण के प्रशंसक होते हैं। प्रत्येक कला में इस द्वंद्व का लक्षण वर्तमान रहता है। इस द्वंद का इतिहास बड़ा ही मजेदार और संभावना पूर्ण है लेकिन इसके सभी पहलुओं पर विस्तृत विवेचन अभी तक नहीं किया गया है। यहां उद्देश्य सिर्फ इतना ही कहना है कि इसी द्वंद को ही ध्यान में रखकर हम गलत समझी जाने वाली प्रतिभा के तथ्य को आसानी से व्याख्यायित कर सकते हैं। इसी कारण समकालिक रुचि 'पर्दे को उठाने' की प्रक्रिया को कला के प्रमाणिक उदय के रूप में पहचान नहीं पाती।

प्रतिभा की अवधारणा भी एक रोमांटिक प्रवृत्ति है। क्लासिकी अथवा क्लासिकी युग के तुरंत पश्चात् कलाकार की महानता का आधार परिचित, स्वीकृत रूपों के संतोषजनक उपयोग में निहित होता है। उसका विषय नवीन

होने पर भी वाक्य-संरचना और शब्द-चयन के शैली जनी-पहचानी होती है समकालिक रुचि को उसके महत्व के विषय में कोई संदेह नहीं होता क्योंकि उसकी कृति और उसके पूर्ववर्तियों की कृतियों में परिमाणात्मक अंतर हो सकता है लेकिन प्रजातिमूलक नहीं। वह परंपरा मे जोड़ता है लेकिन बगावत कभी नहीं करता। स्वच्छन्दतावादी युगों में कलाकार सदैव विद्रोही होता है और परंपरा को नकारना अथवा उसका विध्वंस करना कभी-कभी व्यग्रकारी हो जाता है। उसकी मौलिक अवधारणायें ध्वसात्मक प्रतीत होती हैं क्योंकि अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के लिये वह पुराने सांचो को तोड़ता रहता है। अनुदारवादी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचता है कि जान-बूझ कर उसकी टांग खींची जा रही है और वह ऐसा तब तक सोचता रहता है जब तक कि नया सांचा अपने को स्थापित नहीं कर लेता लेकिन इसके स्थापित होते ही एक नया क्लासिकी युग प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गलत समझी जाने वाली प्रतिभाका जन्म तभी होता है जब एक नये विषय कलाकार को पुराने रूपो को अस्वीकृत करने के लिये बाध्य कर देता है। हमारा युग इस प्रवृति का एक आत्यांतिक उदाहरण है।

भावी कला-इतिहासकार जब विगत सौ वर्षों के कला-विकास पर दृष्टि डालेगा तो वह 20वीं सदी को एक महत्वपूर्ण मोड़ के रूप में देखेगा। इस प्रकार के और मोड़ आये हैं। चौथी सदी में ईसाई धर्म की विधिवत् मान्यता पहला मोड थी, 15वीं सदी में इटली में पुनर्जागरण-मानवतावाद का प्रभाव दूसरा मोड था। प्रत्येक मोड़ के पीछे अलग-अलग कारण थे। गैर-ईसाई से इसाइयत की ओर का मोड़ रहस्यपूर्ण मूल्यों के एक नये अनुक्रम पर आधारित था जो गैर-इसाइयत की समझ से परे था। पुनर्जागरण की जड़ व्यक्ति की असीमित शक्ति मे विश्वास में निहित थी। लेकिन दोनों स्थितियों में कला पर समान प्रभाव पड़ा। परिवर्तन का रुख भी दोनों स्थितियों में समान ही था। पुराने रूपों के प्रयोग से असफल होकर नये रूपों की खोज कलाकारों द्वारा दोनों युगों में हुई। इस खोज के दौरान कला दो खेमों में बँट गई, उसका पुराना स्वरूप नये संदेशों का भार वहन नहीं कर सकता था और दूसरी ओर नया रूप इसके प्रति पूर्ण न्याय करने मे अभी तक सक्षम नहीं हो पाया था।

इस प्रकार बिजेन्टाइन (बिजेंटियम से संबंधित) विम्ब (37) अपने को गैर-इसाई आवरण में ढंकने की कोशिश करता है और अपने को स्पष्ट करने में असफल हो जाता है। मानव आकार अपोलो है अथवा जीसस, कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो गैर-ईसाई की शारीरिक पूर्णता उसमें है और नहीं ईसाइयों जैसी रहस्यात्मकता ही है। यह असमंजस का भाव कला में कुछ समय तक

रहा लेकिन धीरे-धीरे यह इतना साफ-सुथरा हो गया कि पुनर्जागरण के ठीक पूर्व तक यह लोकप्रिय बना रहा।

पुनर्जागरण काल में कुछ समय तक असमंजस की स्थिति बनी रही थी। इसका अंदाज हमें डूशियों के 'क्राइस्ट अपीयरिन्ग टु अपासल्स' से मिल सकता है जिसकी सभी आकृतियां पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक, याजकीय और द्विआयमीय है (40)। जियोतो जो लगभग उसी समय चित्रांकन कर रहा था और जो अपनी कृतियों में चित्रकला के संपूर्ण इतिहास में सबसे अधिक मौलिकता भर रहा था, ने पुनर्जागरण की कला की नींव डाली लेकिन एक शताब्दी बाद तक इस नई शैली को स्थापित करने की समस्या बनी ही रह गई। एक ओर जहाँ मसाशियो बडी तेजी से व्यक्तित्ववाद की विजयों की ओर बढ़ रहा था वहीं दूसरी ओर फ्राऐन्जिलको पीछे मुड़कर मध्यकाल की ओर देख रहा था।

इस दरार के संबंध में समकालिक निर्णयों का कोई साक्ष्य हमारे पास नही, हालांकि यह निश्चित है कि उस समय का अभ्यासी कलाकार नये का पक्षधर था और सामान्य आदमी प्राचीनता का पक्षधर। नये की हर हालत में जीत होनी ही थी। एक शताब्दी पश्चात् जहां मसागियों के भित्त चित्रों का सम्मान हो रहा था, वही फ्रा ऐन्जिल्कों पर उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा था।

आज कला दो खेमों में बटी हुई है लेकिन यह दरार आज अधिक तीव्र है। आज नये और पुराने रूप साथ-साथ दिखाई पड़ रहें हैं। सेजाँ और बानगॉग दोनों ने प्रभाववादी तकनीक का सहारा लिया था। दोनों ने बेमन से इसका प्रयोग किया क्योंकि दोनों को चाक्षुष सत्य की प्रभाववादी खोज में विश्वास नही था और दोनों ने इसे अस्वीकृत करने के बजाय इसे अपने अनुरूप वदलने का प्रयास किया। इसकी अस्वीकृति अगली पीढ़ी द्वारा हुआ। पिसेरो से अपने को मुक्त करने के तुरंत पश्चात् के सेर्जा के चित्र और आर्ले में निवास के दौरान वान-गॉग के चित्र डूशियों की चित्रकला से संबद्ध लगते हैं। वे उसी तरह लगते है जैसे पारंपरिक आकार की बोतलों में नई शराब।

जियोतो से प्रारंभ होकर प्रभाववाद के साथ समाप्त होने वाले दौरान इस परंपरा का पूर्ण अस्वीकार आज काफी स्पष्ट है। आगे हम संक्रान्ति काल मे रुचि संबंधी समस्याओं पर विचार करेंगे।

चित्रकला पर फोटोग्राफी के पड़ने वाले प्रभाव का शायद अभी तक जायजा नहीं लिया गया है। जब भी यंत्रों ने मानवीय हाथों का स्थान लेने का प्रयास किया है एक संघर्ष की स्थिति पैदा हुई है। क्योंकि हाथ मशीन की तरह काम नहीं कर सकते और हाथ का काम जब मशीन करना शुरू करती है तो स्थिति

विकट हो जाती है। फिर भी ऐसे आविष्कारों के कुछ ही समय बाद हाथ मशीन से प्रभाव ग्रहण करना शुरू कर देते हैं""। अलबर्टी जो मानववादी सौंदर्य शास्त्र का जनक माना जाता है कलाकारों के उद्देश्य को जानता था। ये उद्देश्य दो प्रकार के थे। पहला था यथासंभव प्रकृति का अनुकरण और दूसरा अपनी कृतियो को 'सुन्दर' बनाना। इन परस्पर संघर्षशील उद्देश्यों में सामंजस्य बैठाने का ढंग था प्रकृति के विषय पर चित्र बनाना लेकिन हमेशा सर्वाधिक सुन्दर विषयों को चुनना।

लियोनार्दो, यद्यपि उसकी दृष्टि अल्बर्टी से ज्यादा वैज्ञानिक है, का भी यही विचार था। चित्रकला कविता से श्रेष्ठ है क्योंकि 'यह प्रकृति के बिंबों' को कवि की अपेक्षा अधिक प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है। इन बिंबों के निर्माण में विज्ञान सहायक हो सकता है लेकिन केवल इसलिये कि विज्ञान की सहायता से वह ऐसे नियमों को उपलब्ध कर सकता है जो उसे अपने इच्छित पदार्थों का भौतिक चक्षु से अनुवीक्षण करने के कष्ट से बचा लेगें। प्रकाश के प्रदत्त परिमाण और दिशा द्वारा स्थान के किसी बिंदु पर पड़ने वाले प्रकाश के प्रभाव की गहनता नापी जा सकती है। यह आवश्यक नहीं कि जितनी बार चित्रकार उसे चित्रत करना चाहे इसे बार-बार प्रारंभ से देखना पड़े।

यदि इन दोनों विचारकों को यह मालूम हो जाता कि उनको मृत्यु के चार सौ वर्षों के पश्चात् एक ऐसी मशीन का आविष्कार हो जायेगा जो प्रकाश की आकृ-तियों और उसकी गहनताओं को अपने आप लेखबद्ध कर लेगी तो उन्हे परेशानी और निराशा अवश्य होती। वे यह महसूस करते कि इससे चित्रकला के महत्व और प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी। पैदल यात्री को साइकिल सवार द्वारा और साइकिल सवार को मोटर चालक द्वारा पीछे छोड़ दिये जाने पर वे गति के प्रश्न पर विचार न कर पाते। कैमरे के आविष्कार ने कलाकार को पीछे छोड़ दिया है और वह यही सोच कर संतोष कर सकता है कि लेखबद्ध करना ही सब कुछ नहीं होता और वह दूसरे कामों पर—जैसे कि सौंदर्य की तलाश—अपना ध्यान केंद्रित कर सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि फोटोग्राफी के आविष्कार ने प्रभाववादी कलाकारों के लिये काम सरल कर दिया है। कैमरे द्वारा प्रस्तुत संसार की विशेषता स्पष्टता का अभाव न हो कर बलाघात का अभाव थी। कलाकार की आंखों के विपरीत कैमरे की आंख अनेकों खानों में बटे हुये पदार्थों को चुनने में असफल रही, विशेष रूप से रुचिकर और अरुचिकर, महत्वपूर्ण और महत्वहीन के खानों की वस्तुओं को। जीवन के वस्तुनिष्ठ चित्रण ने फोटोग्राफी में उत्सुक और अपरि-चित रंग का निर्माण किया जो प्रभाववादियों के लिये अपने आप में महत्वपूर्ण था,

इसने कलाकारों को एक नये प्रकार की रचना करने में सहायता पहुंचाई—जैसे डेगा के लिये—जो ऊपर से वस्तुनिष्ठ होते हुए भी वास्तव में उतनी ही सचेत और वैयक्तिक थी जितनी की अतीत के कलाकारों की रचनायें। इसके प्रभाव के फलस्वरूप कलाकार ने गतिमान प्रकृति को पकड़ा तो, लेकिन एक क्षण के शतांश के विलंब से ताकि रचना के स्वीकृत प्रतिमानों में यह फिट हो सके। लेकिन चूँकि रचना के नियम कलात्मक अभिव्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही होते हैं अतः प्रभाववादियों के लिये फोटोग्राफी ने रचना के नियमो को विस्तार दिया और उसमें संशोधन किया।

यह परिवर्तन अल्पकालिक था। इससे भी महत्वपूर्ण परिवर्तन तब हुआ जब कलाकार को यह अहसास हुआ कि विवरणकार की उसकी भूमिका अर्थात् प्याज की ऊपरी पर्त पर उसकी भूमिका के लिये एक मशीन पैदा हो गई है। अतः इस कार्य में उसने अपनी हार मान ली और चित्रांकन के उद्देश्यों पर पुन-विचार करना प्रारंभ किया। उसकी स्थिति उस सेनापति जैसी थी जिसे करारी मात खाने के पश्चात अपनी रण-व्यवस्था पर पुनः विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ा हो।

कला के संबंध में सिद्धांत निरूपण करना खतरनाक होते हुए भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है। 20वीं सदी के प्रारंभिक वर्ष इस प्रकार के सैद्धांतिक चिंतन के विकास के लिये उपयुक्त थे। प्याज की उपरी पर्त निरर्थक हो गई थी। स्थूलाकृत परिदृश्य पुराना पड़ गया था। यथार्थवाद अनावश्यक हो गया था। कोई कारण नहीं था कि कलाकार प्रकृति का अनुकरण क्यों न करे लेकिन उसके इस कार्य में अब प्रतिष्ठा नहीं रह गयी थी। उसकी समस्या का बिंदु प्याज की भीतरी पर्त थी और क्योंकि बाहरी पर्तें छायाओं से बहुत अधिक जुड़ी हुई थीं अत दूसरे छोर पर कार्य प्रारंभ करना स्वाभाविक ही था। उन्हें यह परखना था कि क्या कोई सौंदर्य चिंतन ऐसा हो सकता है जो केंद्र से प्रारंभ होकर परिधि की ओर बढ़ सके। ऐसा करना सरल नहीं था। कलाकृति के विभिन्न स्तरो के अंतर्वेधन और अन्योन्याश्रयिता का उल्लेख पहले किया जा चुका है लेकिन अन्यो-न्याश्रयिता के एक पक्ष पर अब तक विचार नहीं किया गया है और वह यह है कि यह एक ही दिशा में अग्रसारित हो सका है अर्थात् बाहर से भीतर की ओर। प्रत्येक पर्त अपने ऊपर वाली पर्त से नियामित होती है, उसी से यह अपना अर्थ और अस्तित्व ग्रहण करती है। एक बार हम फिर प्याज की पर्तों का उल्लेख कर सकते हैं।

1. दृश्यमान पदार्थों का वस्तुनिष्ठ, तथ्यात्मक वर्णन
2. वर्णित पदार्थों पर आत्मनिष्ठ वक्तव्य

3. सामान्यत: जीवन के प्रति वैयक्तिक दृष्टिकोण
4. 'सौंदर्य'
5. हस्तलेख

विकास की दिशा विशिष्ट से सामान्य की ही ओर न होकर निर्वैयक्तिक मे वैयक्तिक की ओर भी होती है। केन्द्र की ओर विकास के प्रत्येक बिन्दु पर कलाकार एक ऐसे अनुभव तक पहुंचता है जो यही नहीं कि अधिक सार्वभौमिक है अपितु अधिक उसका अपना भी है लेकिन परेशानी यह होती है कि उसकी यात्रा बाह्य से प्रारम्भ होती है; वह सामान्य तथा विशिष्ट से होकर ही पहुंच सकता है; इन्द्रिय बोधों के जीवन के अनुभव के पश्चात ही वह संवेगों के साम्राज्य को व्यक्त कर सकता है। वेरानीज़ के चित्र के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया था कि प्रत्येक पर्त्त अपने से आगे वाली पर्त्त में इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि उन्हे एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता; यही नहीं, प्रत्येक पर्त अपनी ऊपरी पर्त से अर्थ प्राप्त करती है। इससे भी अधिक यह कि पूरे प्याज की शक्ति का आधार वह मिट्टी होती है जिसमें वह उगा था। यदि वेरानीज़ उस पृष्ठभूमि में न रहा होता जिसमें केथालिक चर्च ने अपनी शक्ति का परिचय देखकर एक कलाकार को सेण्ट केथेराइन के रहस्यपूर्ण विवाह को चित्रित करने के लिये आमंत्रित किया था, इस विश्वास के साथ कि विषय से पूर्ण परिचित प्रेक्षकों के एक समूह के समक्ष उस सम्पूर्ण साहित्यिक यथार्थ को यह चित्र अभिव्यक्त कर देगा तो यह चित्र कभी भी न बन पाया होता। एक बार विषय निश्चित हो जाने के पश्चात् वेरानीज को को सबसे पहले अपना मंच तैयार कर इस पर चरित्रों को सजाना था। प्रथम, वस्तुनिष्ठ कदम के अभाव में वह चरित्रों या उनके पर्यावरण पर अपना वैयक्तिक वक्तव्य न दे पाता। फिर उस विशिष्ट घटना पर अपना वक्तव्य देने के पश्चात् ही और दूसरी घटनाओं पर दिये गये उसके वक्तव्यों से हमारे द्वारा इस वक्तव्य की तुलना के पश्चात् ही हम वक्तव्य के पीछे छिपे हुये व्यक्तित्व, साधरणीकृत दृष्टिकोण को पा सकते हैं। जब तक इस व्यक्तित्व, दृष्टिकोण को स्थापित नही कर लिया जाता है तब तक वह इसके अनुरूप सौन्दर्यमूलक रूप का विकास नही कर सकता और अंत में, जब तक इस सौंदर्यमूलक रूप का विकास नही कर लिया जाता तब तक उसका 'हस्तलेख'—वे सारे पदार्थिक और भौतिक साधन जिसके द्वारा इसे व्यक्त किया जाता है—अस्तित्व में आ नहीं सकता है। अभिव्यक्ति के लिये विचार की अनुपस्थिति में हस्तलेख बंजर ही रह जाता है; विचार तब तक असंभव रहते हैं जब तक इसे पैदा करने के लिये कोई मूर्त उत्तेजक न हो, और यह मूर्त उत्तेजक कलाकार को उस बाह्य संसार से ही प्राप्त हो सकता है जिसमें वह रहता है।

मिट्टी और प्याज की ऊपरी पत्तों की पूर्ण उपेक्षा तो असंभव है लेकिन उनके महत्व को कम किया जा सकता है ताकि भीतरी पत्तों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके और ठीक यही इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो में हुआ। सामान्यत: दृश्यमान जगत के प्रति सेजाँ का एक निश्चित दृष्टिकोण था यद्यपि अदृश्यमान पदार्थों के कुछ विशिष्ट अनुक्रम जिन्हे वह चित्रित कर रहा था उसके लिये बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं थे। सेब उसके लिये एक फल न होकर एक गोले का सादृश्यमूलक था।

इसी प्रकार स्यूरा ने भी एक विशिष्ट प्रकार की रेखा और रचना के मनोवैज्ञानिक प्रभाव के विषय मे निश्चित मान्यतायें बना ली थीं और यद्यपि विषय-वस्तु का महत्त्व उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक था क्योंकि रचना का प्रारंभ-बिंदु यही होता था लेकिन इसका आतंरिक महत्व उसके लिये बहुत कम था। कोरस कन्याओं का ऊंचा पाद प्रहार (35) विकर्णों के लिये एक बहाना भर था और यदि सामने के दुहरे मंद्र की गर्दन कन्याओं के पांवों की विकर्ण रेखाओं को और अधिक तेज कर सकें तो फिर कहना ही क्या। वानगॉग सेजाँ और स्यूरा से कहीं अधिक जीवन में रुचि लेता है लेकिन इसका प्रकटन मुख्य रूप से उसने अपने 'हस्तलेख' द्वारा ही किया है। देलाक्रवा (38 और 39) और मिलेट के चित्रों की प्रतिकृतियों से यह स्पष्ट है कि वह मूल चित्रो के किन गुणो को उस गत्यात्मक शक्ति के लिये त्यागने की कोशिश करता है जो उसकी चित्रकला की प्रमुख शक्ति है।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सेजाँ ने तीसरी, स्यूरा ने चौथी और वानगॉग ने दूसरी और पाँचवीं पर्त को गाढ़ा बनाया। यह एक जोखिम भरी क्रिया थी लेकिन दोष इनमें से किसी का भी नहीं। आधुनिक चित्रकला में विषय वस्तु के प्रति बढ़ती हुई उपेक्षा का कारण कलाकार में सामान्य मानवीयता का अभाव न होकर कलाकार और समाज का बदला हुआ रिश्ता है। लेकिन साथ ही वस्तुनिष्ठ यथार्थवाद के क्षण के लिये आंशिक रूप से फोटोग्राफी का आविष्कार है।

पिछले डेढ़ सौ बर्षों में ललित कलाओं पर दुहरा आघात हुआ है। पहला इस अर्थ में कि समाज को चित्रकार की उसी प्रकार आवश्यकता नहीं रह गई है जिस अर्थ में वायुयान विशेषज्ञ की आवश्यकता उसे है। दूसरा यह कि फोटोग्राफी ने इसके तथ्य-संग्रह के कार्य को इससे छीन लिया है। इस प्रकार बाह्य संसार से उसे जोड़ने वाली दो कड़ियां टूट चुकी हैं—कलाकार कर्म-संसार से निर्वासित किये जाने पर चिन्हों के संसार का रईस बन चुका है। चित्रकला

क संबंध में अल्बर्टी के सिद्धान्त का विकल्प खोजने के लिये यह पहला कदम था, तीनों दिशाओं में इससे कहीं अधिक साहसिक कदम उठाये गये। सेजाँ की शल्यक्रिया और विश्लेषण की अमानवीय प्रकृति ने क्यूबिज्म को जन्म दिया, स्यूरा द्वारा चित्रकला के विशुद्ध शिल्पीय पहलू पर बल देने का फल अमूर्त कला है, वानगॉग द्वारा 'हस्तलेख' पर अधिकाधिक विश्वास उसके अनुयायियों के बीच मात्र रंगों का 'संभालना' भर रह गया है।

किसी पर्त्त को मोटा करने अथवा पतला करने की एक सीमा होती है और ऊपरी पर्त्तों को मोटा अथवा पतला करने की सीमा आधुनिक चित्रकला में छू ली गई है। पिछले पचास वर्षों को ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कला-इतिहास में ऐसा शायद ही कभी हुआ हो जब कलाकार के प्रतिमान इतने अनिश्चित रहें हों जितना इस दौरान रहे है। उपर जिस प्रकार की चित्रकला की व्याख्या की गई उसके पक्ष और विपक्ष में इतनी जोरदार दलीलें भी कभी नही दी गई थीं। इसमें से अधिकाँश दलीलें इस केन्द्रीय तथ्य को नजरअंदाज कर देती है कि सामान्य प्रेक्षक के लिये भी कलाकृति तक बाहर से ही पहुंचा जा सकता है और भीतरी पर्तों की कीमत पर ऊपरी पर्त्तों को पतला करना उसे भ्रमित कर देता है। समकालिक समीक्षा इन ऊपरी पर्त्तों को वास्तविक कलात्मक टिकियाका आवरण भर मानती है जिनका कलात्मक महत्व नगण्य ही होता है। लेकिन इस प्रकार की व्याख्यायें पवित्रतावादी ही होती है और चूँकि कला का सामान्य उपभोक्ता पवित्रतावादी नहीं होता अतः वह इन पर विश्वास नहीं कर सकता। प्रजातंत्र के विकास, शिक्षा के प्रसार, चलती-फिरती प्रदर्शनियों और प्रतिकृतियो के कारण कला से परिचित होने के अवसरों की वृद्धि के कारण सामान्य उपभोक्ता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उस विचित्र स्थिति का जिसमें सामान्य व्यक्ति के लिये कला अधिकाधिक उपलब्ध होती रही है सामना करना पड़ेगा। इसका सामना करने के दौरान ही 'सौन्दर्य' शब्द का अर्थ प्रकट होगा।

इस स्थिति का सामना करने का सरलतम उपाय हैं समकालिक कला के प्रति सामान्य रुढ़िवादी विचारों की व्याख्या ऐसा व्यक्ति जो समसामयिक कलाकृतियों में से अधिकतर को अवास्तिक और कुरुप पाता है और अधिक तब परेशान होता है जब वह देखता है कि उन्हीं कला कृतियों की समीक्षकों और कलाप्रेमियों का एक छोटा सा समूह अत्यधिक प्रशंसा कर रहा है।

'मगर क्या तुम इससे शादी कर सकते हो ? यह सीधा, बैलोस लेकिन क्रोध-पूर्ण प्रश्न मेरे एक मित्र ने मुझसे उस समय किया था जब मैं पिकासों के एक चित्र, जिसके स्त्री आकार को किसी प्रकार पहचाना जा सकता था, की तारीफ कर रहा था। मेरे मित्र के क्रोध का कारण था पिकासों द्वारा स्त्री आकार का

निममता से किया गया पुनर्संगठन यह प्रश्न यदि आज तक मैं मूल नहीं सका हूँ तो इसका आंशिक कारण मेरे मित्र था क्रोध-विस्फोट था और आंशिक रूप से उसका यह विश्वास कि इस सवाल का कोई जवाब नहीं हो सकता और निश्चय ही मैं ऐसे सवाल का जवाब बिना अपनी पराजय स्वीकार किये नहीं दे सकता था। लेकिन उसी क्षण मुझे यह भी महसूस हुआ कि उसका सवाल जायज था। यह एक ऐसे व्यक्ति का प्रश्न था जो दुनिया दार था और इस प्रकार यह एक बेमतलब सवाल था, इसके बने-बनाये जवाब बहुत सरल हैं—जैसे यह कि कलाकार का काम न तो प्रकृति का अनुकरण करना है और नहीं प्रकृति में सौन्दर्य की खोज ही करना, उसका कार्य है फलक के चौखटे के भीतर रंग और रूप को संगठित करना, या यह कि चिंतन का वह संसार जिसमें कला का अस्तित्व निहित होता है नियमों के एक ऐसे अनुक्रम से परिचालित होता है जो कर्म के संसार से, केवल जिसमें ही 'विवाह' जैसे शब्द का कोई अर्थ होता है, भिन्न होता है, कि कला-सौन्दर्य और मानव-सौन्दर्य के बीच संबंध बहुत हल्का है। लेकिन इस प्रकार के उत्तर परिष्कृत शब्द-जाल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। ये उत्तर भी उतने ही बेमतलब हैं जितना कि वह दुनियादार सवाल। लेकिन ल्याँ बातिस्ता अल्बेरती ने भी जो उस अर्थ में दुनियादार नहीं था यही प्रश्न किया होता। क्योंकि पिकासों ने अपने चित्र में कुछ ऐसा अवश्य किया है जो 14वीं सदी के प्रारम्भ से लेकर 19वीं सदी के अंत तक के दौरान कोई कलाकार सोच भी नहीं सकता था। उसने मानव शरीर की भद्रता की ही उपेक्षा नही की है अपितु उसकी मानवीयता को भी खो दिया है। निर्वैयक्तिक देगा, सनकी तूलूज लोत्रेक ने भी यह संकेत करते समय कि न तो सभी स्त्रियाँ शारीरिक सौन्दर्य की धनी होती हैं और नहीं सारे पुरुषों में शारीरिक सौष्ठव होता है दैहिक आदर्श के अस्तित्व का आभास बनाये रखा था। यहां तक कि गाँगुई का योरोप से सुविचारित पतायन भी इसका एक संकेत है कि वह एक प्रकार के दैहिक सौन्दर्य के स्थान पर दूसरे प्रकार के सौन्दर्य की तलाश में है।

लेकिन पिकासो का विरुपण न तो मानवता पर एक सनक भरा वक्तव्य है और नहीं मानव सौन्दर्य के एक नये प्रतिमान की स्थापना का प्रयास। इस प्रकार के विरुपणों का समानांतर खोजने के लिये मध्ययुगीन कलाकारों की ओर देखना पड़ेगा जो पिकासों की ही तरह दैहिक सौन्दर्य की उपेक्षा करते थे लेकिन इसका कारण भिन्न था। 12वीं सदी के रोमन शैली में बने हुए या वेनिस में सेण्ट मार्क के प्रागण में 14वीं सदी के पाँतीफेर की पत्नी की पच्चीकारी (42) के महिला चित्रों के साथ विवाह की बात उसी प्रकार नहीं सोची जा सकती जैसे पिकासो के 1907 में निर्मित (41) चित्र की महिला आकृति

के साथ और यद्यपि आज का दुनियादार व्यक्ति इस बात से सहमति जाहिर करेगा लेकिन ऐसा करने में वह भावप्रवणता अथवा आक्रोश नहीं होगा। अब समय आ गया है कि दुनियादार व्यक्ति को उसका अंश दिया जाय। वह मूर्ख नहीं है; उसकी बुद्धि बस थोड़ी-सी ओछी भर है। जब वह पिकासो का अर्थ समझने में असफल होता है तो इसलिये कि पिकासो उसकी कटियां में चारा लगाने से इन्कार कर देता है। और इसके लिये मछली से अधिक दोष मछली पकड़ने वाले का है। यह कहना व्यर्थ है. कि सारा महत्व कटियां का है और चारे का बिल्कुल ही नहीं। यह तर्क पवित्रतावादी मछोहों के लिये कुछ मतलब रख सकता है लेकिन नदी के पेट में पड़ी हुई मछलियों के लिये यह व्यर्थ है।

लेकिन यह उपमा ठीक नहीं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि कला के उत्पादक और उपभोक्ता दो प्रजाति के हैं, कि एक का कार्य है दूसरे को फुसलाना, कि फुसलाने के लिये भी सम्माननीय ढंग का ही प्रयोग होना चाहिये और कि कलात्मक फुसलाहट का एक मात्र सम्माननीय ढंग विशुद्ध सौंदर्यमूलक होना चाहिये। इस विवेचन में हमारा उद्देश्य है कला और जीवन में कलात्मक सौन्दर्य को एक मूल्य के रूप में स्थापित करना। इसका परिणाम यह प्रदर्शित करने में है कि जीवन में सौन्दर्य का अर्थ होता है प्रकृति के गणितीय नियमो के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया और कला में उस गणितीय प्रतिक्रिया का उसके प्रदत्त माध्यम द्वारा गहनरूप से अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण। इस अर्थ में जीवन में सौन्दर्य 'खोजने' और उसे अलग कर उसे गहन बनाने में पिकासो आश्चर्य जनक ढंग से सफल रहा है। ऐसे दर्शक के लिये जो अपनी असौंदर्यमूलक क्षुधाओ का शमन कर ऐसा जीवन जीने के लिये प्रस्तुत हो जाता है जिसमें संयोजन की कोई भूमिका नहीं होती, पिकासो की शैली पूर्णतया संतोषजनक लगेगी। लेकिन ऐसा दर्शक केवल सिद्धांतों में रहता है, वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता है क्योंकि गणितीय सौंदर्य की क्षुधा के अतिरिक्त उसकी और कोई क्षुधा नहीं होती। वह हमारे मूल प्रश्न, कि क्या तुम उससे शादी कर लोगे का जवाब ईमानदारी से ऐसे देगा, "मानवीय इच्छा अथवा प्रेम की शक्ति मुझ में नहीं, अतः किसी से भी विवाह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। पिकासो के चित्र की महिला मेरे लिये अधिक गणितीय उत्तेजना देती है और इसीलिये वह मुझे वीनस अथवा मोनालिजा की अपेक्षा कहीं अधिक संतोष देती है।"

यहां यह स्पष्ट हो गया कि कलात्मक व्यक्ति उतना ही अधूरा है जितना कि उसका प्रतिद्वन्दी दुनियादार व्यक्ति और इस प्रकार अधूरे व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर बनाया गया सिद्धान्त असंतोषजनक ही होगा। फिर भी यह मानना कि गणितीय संतुष्टि अपने आप में मूल्यहीन है मूर्खता होगी। प्रत्येक कृति

का एक रूपात्मक ढांचा अवश्य होना चाहिए और इस ढांचे के भीतर का प्रत्येक तत्व ठोस सावयविक ढंग से संवद्ध होना चाहिए। इस प्रकार की संबद्धता के अभाव में कठिन चाक्षुप पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। आखें उस स्थिरता और संतुलन को खोजेंगी जो कलाकृति का आधार होती हैं और जिसे समीक्षा इसका रूपात्मक मूल्य कहती है। प्रत्येक चित्र गणितीय शब्दावली में आसानी से बदला जा सकता है। विभिन्न कालों में और विभिन्न कलाकारो द्वारा प्रयुक्त गणितीय युक्तियां भिन्न होती हैं लेकिन हमेशा उनका कार्य उस चाक्षुष स्थिरता और संतुलन को पैदा करना होता है जिनकी प्रेक्षक को तलाश होती है और इस प्रकार ढांचे के भीतर कलाकृति उसी प्रकार रूढ़ चाक्षुष नियमो से नियामित होती है जैसे ढ़ाचे के वाहर के संसार को वृत्तिमूलक नियम नियामित करते है। सबसे स्पष्ट युक्ति है सममिति की और इसका सहज विकल्प है लगभग स्थापित केन्द्र-रेखा वाला पिरामिडा। पोलाइडलो का चित्र (43) एक ऐसा आत्यांतिक उदाहरण है जिसमें कि युक्ति हास्यास्पदबन कर रह गयी है, लेकिन रेफेल द्वारा बनाये गये मेडोना के कुछ चित्र भी उतने ही रुढ़ है। सममिति बहुत शीघ्र ही थकाऊ लगने लगी। केन्द्र-रेखा तोड़ दी गई, और बलाघात चित्र के एक ओर दिया गया और नयी युक्तियों का आविष्कार किया गया। रुवेन्स के 'डिपोजीशन' का उदाहरण हम पहले ही दे चुके हैं। लेकिन वह प्रश्न जिसका उत्तर पाने की कोशिश मैं अभी तक रहा हूँ वह यह है, 'हो सकता है कि कलाओं में इस गणितीय आधार का अभाव दुनियादार और कलाप्रेमी दोनो को अखरे लेकिन इसे लेकर इतनी बेचैनी क्यों? घटिया चित्रों में भी यह मौजूद है.....लेकिन इस नकारात्मक तथ्य के अतिरिक्त कि इसके बिना चित्र असहनीय बन जायेगा, यह इतना अधिक मूल्यवान क्यों है? यदि यह 'सौन्दर्य' का रहस्य है तो यह इतना कच्चा है कि हमारे चेतन जीवन पर पड़ने वाले कला के संवेगात्मक प्रभाव की व्याख्या इसके आधार पर नहीं की जा सकती। क्या इसी के कारण लाखों रुपये कलाकृतियों पर व्यय किये जाते हैं और करोडो शब्द कलाकार की प्रतिभा की प्रशंसा में लिखें गये हैं?"

नहीं। विषय के अभाव में अथवा उससे अलग रूप की अवधारणा मान्य नही हो सकती लेकिन समीक्षक और अमूर्त चित्रकार के लिये इस अवधारणा का बहुत अधिक महत्त्व होता हैं। रूप के प्रारंभिक नियम, स्थिरता, संतुलन और विभिन्न अंशों का पूर्णरूप से अन्दर्सबंध भी विषय की कोटि में आ जाते हैं। पोलाइडलो की सममितीय विकर्णों से घिरी हुई उदग्र केन्द्र रेखा आंखों के लिये इस कारण नही सुखकर है कि यह वृत्तिमूलक है और इसलिये अपरिहार्य। गुरुत्वाकर्षण के नियम हमें यह महसूस करने के लिये मजबूर कर देते हैं कि उदग्र रेखा—गिरते हुए

सेव का भाग, उगते हुए वृक्ष अथवा खड़े हुये मनुष्य की धुरी—का एक विशेष महत्व है; आधार प्रदान करने वाले विकर्ण स्थिरता के बोध को बढ़ाते हैं। जब अस्थिरता का भाव आवश्यक हो जाता है तभी कोई टिटियन सममिति को तोड़ता है और 'पेसारो मेडोना' की रूपात्मक असममिति का आविष्कार करता है। लेकिन इसे न्यायोक्त बनाने के लिये, अनेकों सैंकड़ों असममितियों की दरकार होती है। यहाँ हम ब्रांजिनों और रुबेन्स के चित्रों (44 और 45) की तुलना कर सकते है। ब्रेन्जिनो के चित्र में वास्तु शिल्पीय पृष्ठभूमि अनेकों उदग्र रेखाओं को पैदा करती है। टोपी और मस्तक के अपरिहार्य घुमाव को और अधिक तीव्र बनाने के लिये चित्रकार को दो महरावों का सहारा लेना पड़ा है। ब्रोंजिनों की ज्यामित आर्षकालीन है। इसका स्रोत 15वी सदी के अंतिम वर्षों के क्लासिकी नियम है और इसी कारण इसमें उतनी अधिक विश्वसनीयता नही है। इसे देखकर ऐसा लगता है कि इसकी रचना में काफी अभ्यास किया गया है और परिणामतः चित्र का मनोविज्ञान कमजोर हो गया है।

दूसरी ओर रुबेन्स के चित्र में विकर्णी प्रवाह सायास न लगकर स्वाभाविक लगता है लेकिन इस नयी योजना में नयी ज्योमितीय युक्तियों का आश्रय लिया गया है। ज्यों ही चित्रांकन प्रारंभ हुआ कि अस्थिरता शुरू हो जाती है। विकर्णी रेखा उखाड़ फेकने के विचार का अर्थ देती है और जहाज को ठीक स्थिति मे रखने वाली तान-रस्सियों का प्रयोग यहां काम नहीं कर पायेगा क्योंकि इस प्रयोग का आधार सममिति होती है और सममिति उदाग्रता के साथ ही अस्वीकृत कर दी गई है। आधार की आवश्यकता केवल मस्तूल को ही नहीं अपितु पूरे जहाज को है। चित्र में सर फलक के मध्य में नहीं है और चित्र के उदग्र किनारों से इसके आधार को जोड़ने वाली कोई उदग्र रेखा नहीं है। अपने आप छोड़ दिये जाने पर सम्पूर्ण आकृति शायद दायें ओर मुड़ जाय—या शायद दर्शक की आँख उधर मुड़ जाय। इस असममिति को ठीक करने के लिये पुस्तक और उसे पकड़े हुए हाथ की आवश्यकता पड़ जाती है। बायें हाथ के नीचे एक गहरी छाया पूरे परिमाण की पीछे की ओर झुकती हुई स्थिति को छिपा लेती है और 'उखाड़ने' के बोध को यथासंभव न्यून कर देती है।

दोनो चित्रों का मूलभूत अंतर दो ज्योमीतीय योजनाओं का अंतर नहीं है। यह वस्तुतः मानव जाति के प्रति दो दृष्टिकोणों का अंतर है। दोनों चित्र रूपक की एक प्रजाति हैं। किसी व्यक्ति के विषय में यह कहना कि वह 'उर्ध्वाधर' है, ज्योमीतीय शब्दावली में एक अवधारणा को व्यक्त करना है। रूप विषय में से विकसित होता है। यह विषय से लिया गया एक रूपक होता है। ब्रोंजिनो और रुबेन्स दोनों ने एक विशेष मनोदशा का चाक्षुष सममूलक प्रस्तुत करने का

प्रयास किया है और यदि दोनों चित्रों से ऐसा लगता है कि वे अपने युगों के अनुकूल रचना-नियमों का पालन करते हैं तो इसका कारण यह है कि वे अपने युगों के अनुरुप मनोदशाओं को व्यक्त कर रहे हैं।

कलाओं के गणितीय आधार के विषय में उठाये गये प्रश्न का यही मेरा उत्तर है। इसकी बहुमूल्यता इस बात मे निहित नहीं है कि गणित हमें एक गहनतर आंतरिक संतोष देता है अपितु इसमें कि एक मनोदशा, जीवन का एक पूरा दर्शन अपने एक सममूलक को तब प्राप्त कर सकता है जब एक प्रतिभाशाली कलाकार अपनी तूलिकया उठाता है। यह विशुद्ध रुपात्मक संबंधों के एक अनुक्रम के रुप में ही अपने को व्यक्त करता है। एक कलाकृति में रूप और विषय दो भिन्न उपादान नहीं हैं जो रूप के विषय के प्रति अधिक अनुकूल होने पर अलग-अलग अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। ये वास्तव में एक ही तत्व की दो अलग अभिव्यक्तियां भर है। उदाहरणार्थ विषय को रूपविधान से अलग नहीं किया जा सकता, ऐसा करने से इसके वर्णनात्मक अंश नष्ट हो जायेंगे। रुबेन्स के चित्र में विकर्ण वह वस्तु है जिसके अभाव में वह अपनी बात कह ही नहीं सकता। यदि कोई कलाकार मूर्त वर्णन को अमूर्त रूपविधान में ढालने के इस चमत्कारपूर्ण कार्य को नहीं कर पाता है तो वह कलाकार और चित्रकार दोनों रूपों में असफल ही रहता है। एक मनोवैज्ञानिक आलेख के रूप में भी उसका चित्र कमजोर पड़ जाता है क्योंकि मनोवैज्ञानिक कथन अपना सममूलक रूपविधान पाने में नकामयाब रह गया होता है। हम यह जानते हैं कि किसी बर्तन में इसे इकट्ठा किये बिना शराब नहीं पी जा सकती है। लेकिन कला में रूप विधान और विषय का संबध शराब और बोतल के संबंध से अधिक घनिष्ठ होता है; दोनों को वैचारिक स्तर पर भी अलग नहीं किया जा सकता और यहीं दुनियादार व्यक्ति की दृष्टि नाकाफी हो जाती है। पिकासो के चित्र की ओर देखते हुए वह इसे वर्णनात्मक शब्दावली में अनूदित कर लेता है; उसके लिये चित्र एक स्त्री का प्रतिरुप बन जाता है न कि एक स्त्री द्वारा उत्पन्न एक विशिष्ट मनःस्थिति। इससे आगे का पहला कदम ही यह प्रश्न उछाल देता है क्या इससे तुम विवाह कर सकते हो ? चित्र में स्त्री को वर्णित करने वाला अंश नगण्य है और कुछ ऐसा भी है कि पिकासो इस अंश को और अधिक कम करने का प्रयास करते हुए पुनर्जागरण कालीन कला-दृष्टि से बहुत आगे निकल गया है। चित्र का जितना भी अंश बचता है वह एक मनःस्थिति की अभिव्यक्ति है और मन.स्थिति के साथ विवाह-संबंध की बात सोची ही नहीं जा सकती।

ऐसी स्थिति में दुनियादार आदमी शायद मेरी ही बात को दुहरा देगा, 'तुमने कहा है कि कलाकृति की प्रत्येक पर्त्त अपनी ऊपरी पर्त से अपना अर्थ ग्रहण

करती है बिल्कुल ठीक तुम्हार तक का परिणाम यह होगा हमार समक्ष एक चित्र है जिसकी वणनात्मक पत्त हेय और घृणास्पद है और ऐसा मेरे ही लिय नही है अपितु किसी भी समझदार व्यक्ति के लिये भी है। ब्रोंजिनों का चित्र एक ऐसे व्यक्ति के बिंब की ओर संकेत करता है जो मेरी दृष्टि में प्रशंसनीय हैं, रुबेस का चित्र 'डॉ० वान तुल्डन' भी ठीक है; पिकासो का चित्र जहां तक वह एक स्त्री का वर्णन है मेरे लिये हेय है। यदि प्रत्येक पर्त्त अपनी ऊपरी पर्त्त से अर्थ ग्रहण करती है, तो भी पूरा चित्र निंद्य है। चित्र मे मानववाद का इस अर्थ मे अभाव है कि यह मानब शरीर को आदर्श मानने से इन्कार करता हैं। इसलिए यह कुरूप है। यदि माइकेलऐंजिलों के एडम के विषय में यह कहना संगत है कि यह मनुष्य की एकभव्य अवधारणा है तो पिकासो के विषय में यह कहना उतना ही संगत है कि यह स्त्री की एक अत्यंत ही वीभत्स अवधारणा है।'

दुनियादार व्यक्ति के पक्ष को हमने यथासंभव काफी जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया है और इसका उत्तर तब तक देना कठिन है जब तक मानवतावाद ही प्रमुख स्वीकृत विचार धारा बनी रहेगी। लेकिन मानवतावाद का वर्चस्व हमेशा नही रहा है। लगभग छ शताब्दियों तक पूरे योरोप में छाये रहने के पश्चात् अब यह लगभग मर चुका है। जहाँ कहीं भी और जब कभी भी मनुष्य ने अपने देवताओ को सर्व शक्तिमान और जीवन को रहस्य के रूप में स्वीकार किया है तो वह मावनतावादी नहीं रही है और उसका आदर्श मानवीय सौंदर्य नहीं रहा है। चीनी, मेक्सिकी, अफ्रीकी और मध्यकालीन योरोपीय कला सांसारिक पर्यावरण में स्थिति मनुष्य को केंद्र मान कर सदैव नहीं चली है और इसीलिये उनके कलाकार मनुष्य को प्रेम करने के लिये प्रतिश्रुत नहीं थे। दुनियादार व्यक्ति यह चाहता है कि उन्हें ऐसा करना चाहिये था, इसीलिये वह उनके चित्रों को कुरूप और समझ से बाहर पाता है। लेकिन एक बार प्रत्यक्ष मानवीय संदर्भों को रास्ते से हटा देने के पश्चात् दुनियादार व्यक्ति भी सौंदर्य को देख सकता है। ये चित्र कुरूप इसी अर्थ में ही हैं कि इनमें सामान्य मानवीय संदर्भ का अभाव है। वह निस्संगता जो किसी चीनी आकृति को दूरस्थ और आत्महीन बनाती है, एक चीनी कलश को सूक्ष्म और एक मध्यकालीन चषक को अपूर्व सौंदर्य प्रदान करती है। वक्रतायें, गतियां दोनों में एक जैसी हो ही सकती हैं लेकिन पहले में वर्णन की ऊपरी पर्त दुनियादार के लिये अभेद्य होती है और दूसरे को वह प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेता है क्योंकि इसमें बाहरी पर्त्त होती ही नही। 'अभेद्य' संभवतः बड़ा कठोर शब्द होगा। दुनियादार आदमी काफी दूरदर्शी होता है क्योंकि वह विशुद्ध बर्णनात्मक पर्त के आगे कृत्रिम संवेगीय पर्त्त को भी देख लेता है। किसी पत्रिका के मुखपृष्ठ पर छपी हुई किसी सुन्दरी के चित्र में मानवीय प्रतिकृति के

साथ ही उसका सेक्स अपील को देखने के लिए किसी दूरदर्शिता की आवश्यकता नहीं, यद्यपि दुनियादार व्यक्ति इसबात के प्रति सदैव सचेत नहीं रहता है कि एक ही कलाकृति के ये दोनों पहलू एक दूसरे से अलग किये जा सकते हैं। जेम्सवार्ड के चित्र 'काउच से उठती हुई वीनस' के संदर्भ में एक आलोचक की टिप्पणी पहले उद्धृत की जा चुकी है। इस टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचक दूसरी पर्त तक पहुंचकर वहीं चिपक गया है। उसका सेक्स-संबंधी अनुभव पर्याप्त और साथ ही अत्युक्ति पूर्ण है जिससे वह चित्र पर सेक्स-उत्तेजक के रूप में विचार करने में सफल हो जाता है और साथ ही उसके इसी लक्षण पर वह रुष्ट भी हो जाता है लेकिन उसकी रुष्टता अपने कारण न होकर सरल, जवान लड़कियों की ओर से प्रेरित है (और अनोखी बात यह है कि ये सुंदर भी हैं) जो आलोचक की अपेक्षा ऐसी उत्तेजनाओं के प्रति संभवतः कम संवेद्य रही होंगी। यह भी अनोखी बात है कि पिकासो के चित्र का आलोचक उसके ठीक विपरीत कारण से रुष्ट हुआ था। पिकासो की महिला में वह सेक्स-अपील नहीं है जिससे वह विवाहापेक्षा कर सकती। दुनियादार व्यक्ति को खुश करना आसान नहीं होता।

1830 का आलोचक इस प्रारंभिक पर्त से आगे नहीं जा पाया है या यदि वह गया तो उसने ऐसा स्वीकार नहीं किया है। यह ध्यान में रखते हुये कि 15वी सदी के अंतिम वर्षों से लेकर आज तक नग्न मानव शरीर चित्रकारों का विशेष चित्य विषय रहा है हम उस आलोचक से यह जानने की आशा कर सकते हैं कि कोरीजियों अथवा रुबेन्स अथवा उसके अपने ही समकालिक इन्ग्रीज की अपेक्षा जेम्स वार्ड लज्जा-भावों को उत्तेजित करने में क्यों अधिक सक्षम रहा। यदि उसे मजबूर किया जाय तो वह व्याख्या करने पर राजी हो जायेगा लेकिन वह विश्वसनीय नही हो सकता क्योंकि वह अपनी असफलता नहीं स्वीकर करेगा। उसकी असफलता यह है कि उसमें समझ का अभाव है जो उसकी अनुभव-अपर्याप्तता के कारण है।

कुछ अनुभव इतने सार्वभौम होते हैं कि उनका कुछ-न-कुछ अंश सभी मनुष्यो को प्राप्त हो जाता है। ये अनुभव वे हैं जो उसके जैविक उपयोग के लिये होते है। यह निश्चय ही है कि औसत आदमी भोजन की भोज्यता, स्त्री की वांछनीयता और किसी मित्र की मनः स्थिति से सम्बद्ध चाक्षुष स्मृतियों का एक पर्याप्त परिमाण सग्रह कर लेता है और विशेषज्ञता के साधारणतम रूप इस प्रकार के अनुभवों को कठोर और गहन बना देते है। लेकिन उन क्षेत्रों में जहां अनुभवों का जैविक संदर्भ-नगण्य होता है इन्हें संग्रह करने के कारणभूत तत्व नहीं होते और औसत आदमी इनके विषय में निर्धन ही रह जाता है।

मानव-अनुभव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कला कुछ भी नहीं होती है।

और कला कृतियो को समझना और उनका आनंद उठाना दर्शक द्वारा अपने पूर्व सचित अनुभव-पुंजों से इनको संबद्ध करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। निष्कर्ष यह हुआ कि कलाकृतियों के प्रति दर्शक की प्रतिक्रिया उसके अनुभवों की की मात्रा के अनुपात में ही सीमित होती है। जेम्स वार्ड अथवा पिकासो को हेय समझने वाले आलोचक को इस प्रकार दोप नहीं दिया जा सकता। ऐसी वातो का वह अच्छा निर्णायक है। वह पूर्णतय: सहसंयोजन की प्रक्रिया से आबद्ध है। वार्ड अथवा पिकासो के चित्रों को देखते ही वह उन्हें अपने अनुभव-पुंजों से मिलाना शुरु कर देता है और फिर ये अनुभव अपने साथ अनेकों और सहसंयोजनों को पैदा कर देते हैं। उसकी खिल्ली उड़ाना उचित नहीं होगा, अपनी अनुभव-संकीर्णता के कारण वह दया का पात्र होता है। लेकिन सौंदर्य प्रेमी व्यक्ति जो किसी भी प्रकार के सेक्स-संयोजनों को नकार देता है अथवा उन्हे देख पाने में असमर्थ होता है और अधिक दया का पात्र होता है। उसकी संकीर्णता और अधिक स्पष्ट होती है। उसके बारे में और अधिक खतरनाक बात यह होती है कि वह सकीर्ण से अधिक आडम्बर-युक्त होता है। इस विंदु पर शैली पर विचार कर लेना ठीक होगा और यहीं यह भी स्मरण रखना होगा कि पुनर्जागरण काल से ही समस्त योरोपीय परंपरा इस मान्यता पर आधृत है कि कलाकार को सपूर्ण चित्र की ऊपरी सतह को विवरणात्मक सामग्री से भर देना चाहिये। यहां संकेत यथार्थवाद की ओर नहीं है बल्कि अपेक्षाकृत अधिक मूलभूत उस सिद्धांत की ओर कि चित्र में विवरणात्मक अर्थ होना चाहिए। प्रत्येक योरोपीय की चेतना में यह सिद्धान्त इतने गहरे बैठ गया है कि अब इसे हमने असाधारण अथवा रूचिकर मानना छोड़ दिया है। हम इसके अस्तित्व तक को भूल गये हैं। लेकिन सारी सभ्यताओं ने इसे स्वीकार कर लिया हो सो भी बात नहीं है। कान्सटेबल के किसी परिदृश्य के ऊपरी भाग में नीला रंग आकाश का अर्थ देता है। पिकासो के किसी स्टिल चित्र की पृष्ठभूमि में हरा रंग दीवाल का अर्थ देता है। चित्र कितना भी धुधुला अथवा अस्तव्यस्त क्यों न हो, यह तथ्य कि 'पृष्ठभूमि' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है यह प्रदर्शित कर देता है कि हम चित्र को स्थान में वस्तुओं के प्रतिनिधीकरण के रूप में देखते है और पिकासो, यद्यपि वह पुनर्जागण काल की जीवन-दृष्टि को पीछे छोड़ चुका है, अपने सारे क्रान्तिकारी साहस के बावजूद चित्रकला की पुनर्जागरण पद्धति का त्याग नहीं कर पाया है (48)।

यहां केवल यह याद रखना पर्याप्त होगा कि किसी चीनी परिदृश्य में स्वच्छ आकाश बादलों की अनुपस्थिति के विषय में वक्तव्य न होकर, बादलों के विषय में कोई वक्तव्य देने से इन्कार करने का अर्थ देता है और किसी चीना स्टिल-लाइफ के 'पीछे' रेशम अथवा कागज वाला क्षेत्र लक्षणहीन पृष्ठभूमि का सूचक

नही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्जागरण काल की यह मान्यता कि चित्र को प्रत्येक कोने की कोई-न-कोई चाक्षुष सूचना अवश्य देनी चाहिये सार्वभौमिक मान्यता नहीं प्राप्त कर सकी थी (47)। योरोपीय चित्र सदैव कोई-न-कोई प्रतिनिधिकरण होता है जब कि चीनी चित्र एक आत्म-पूर्ण प्रतीक होता है। यही बात मध्यकालिक कला पर भी लागू होती है। चाक्षुष सूचना इसका लक्ष्य नहीं है। लेकिन पुनर्जागरण काल के पास इस लक्ष्य के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था और योरोपीय चेतना में आज भी यह गहरी जड़े जमाये हुये है तो कलाकृति देखते समय योरोपीय आलोचक इससे मुक्त नहीं हो पाता है।

इन दो कला-परिकल्पनाओं के अंतर को समझ लेना आवश्यक है। कुछ क्षेत्रों में यह विश्वास अभी भी बना हुआ है कि यदि किसी चित्र के धरातल का कोई कोना रंगों से भरा नहीं है तो वह चित्र अधूरा है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों प्रकार की कलाकृतियां दर्शक के मस्तिष्क में दो प्रकार के संयोजनों को जन्म देती हैं। दोनों परंपराओं के चारों ओर विकसित प्रक्षिप्त अनुश्रुतियां इसे और अधिक स्पष्ट कर देती हैं। इस प्रकार की योरोपीय अनुश्रुति अंगूरों की है जिनका चित्रण इतना प्रामाणिक होता था कि पक्षी उन पर बैठ जाते थे। एशियायी अनुश्रुति उस पंखधारी सांप की है जिसमें कलाकार ने आंख इसलिये नहीं बनायी कि कहीं वह उड़ न जाय। यह अंतर है प्रतिनिधि-करण और स्व-शक्ति-सम्पन्न वस्तु में। और 'विवाह' का प्रश्न अंगूर-और-पक्षी परंपरा में पला व्यक्ति ही पूछ सकता है। चीनी चित्रकला में चित्रित पंखधारी सांप किसी पंखधारी सांप के सादृश्य के रूप में न देखा जाकर पंखधारी सांप हो जाने की अपनी शक्ति के आधार पर देखा जाता था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि चीनी कला योरोपीय कला की अपेक्षा जीवन के कम निकट है। लेकिन जीवन के प्रति इसका संबंध भिन्न प्रकार का अवश्य है। प्रत्येक कलाकार चाहे वह प्रतीक गढ़ रहा होता है अथवा प्रतिनिधिकरण, अपने चाक्षुष अनुभवों से ही शक्ति प्राप्त करता है। कलाकृति को देखने वाले दर्शक के लिये भी यही प्रक्रिया लागू होती है और कलाकृति का आनंद वह तभी उठा सकता है जब उसे अपने अनुभव से कहीं-न-कहीं वह जोड़ लेता है। प्रतिनिधिकरण, वह चाहे जितना आदर्शीकृत क्यों न हो, सदैव किसी-न-किसी विशेष स्थिति का आभास दिलाता है, और प्रतीक, वह चाहे जितना विशिष्टीकृत क्यों न हो, सार्वभौमिकता का आभास देता है जैसे द्राक्षा का द्राक्षाभाव, स्त्री का स्त्रीत्व आदि। अतः संगत प्रश्न यह नहीं होगा कि तुम इससे विवाह कर सकते हो ? अपितु यह कि क्या यह चित्रित स्त्री तुम्हारी स्त्री-संबंधी अवधारणा में अभिवृद्धि अथवा संकुचन पैदा

करती ह यह गभीर प्रश्न दुनियादार आदमी को विशिष्ट वस्तुओं की दुनिया से अमूत सवगो की दुनिया म ढकेल देता है। किसा दूसर युग की कला अथवा किसी विदेशी संस्कृति से सम्पर्क के कारण जब भी वह इस दुनिया से दो-चार होता है तो किसी सीमा तक वह इसे 'पुराना' अथवा सज्जापरक कहने से बच सकता है, लेकिन समसामयिक कला के माध्यम से इसका सामना करते ही वह अन्यमनस्क से जाता है। किसी कलाकृति को नितांत परिचित वस्तु का एक बुरे प्रतिनिधिकरण अथवा किसी अवांछनीय वस्तु के अच्छे प्रतिनिधिकरण से अधिक और कुछ वह कह ही नहीं सकता। वह कलाकार के अंतिम अभिप्राय तक पहुच ही नहीं सकता और कला में प्रतिनिधिकरण के पुनर्जागरण वाला सिद्धांत उसकी मुश्किलाहट में और इजाफा कर देता है।

कलाकार के पूर्ण अभिप्राय में जैविक अनुभवों का वह क्षेत्र भी सम्मिलित होता है जिसमें दुनियादार आदमी कलाकार का सहभागी आसानी से हो सकता है लेकिन यह उससे बहुत आगे ऐसे क्षेत्रों को भी समेटे रहता है जो दुनियादार व्यक्ति की पहुँच से बाहर होते हैं। और ऐसे क्षेत्रों में ही रुबेन्स और टिटियन जेम्सवार्ड और येटी जैसे कलाकारों से बाजी मार ले जाते हैं। लिट्रेरी गजट का आलोचक यदि इन क्षेत्रों तक पैठ सकता तो भी निश्चय ही जेम्सवार्ड के चित्रपर उसने वैसी ही राय जाहिर की होती। अपने युग की नैतिक संहिता के संदर्भ में उसका ऐसा न करना उसका पाखण्ड ही होता। क्योंकि किसी वस्तु का चित्र, अन्य बातों के अतिरिक्त, यथार्थ वस्तु की याद भी दिलाता है और इस प्रकार मूल वस्तु के संयोजनों से पूरित हो जाता है। और यदि उसके काल की नीति सहिता इसे अवांछनीय मानती है तो आलोचक वैसा कहने में संगत होता है। लेकिन इसके अतिरिक्त और कुछ भी न कहना अनुचित होगा। जिस समय वह जेम्सवार्ड के चित्र के विषय में अपनी राय लिख रहा था उस समय राष्ट्रीय वीथिका में रुबेन्स का 'जजमेण्ट आफ पेरिस', कोरेजियों का 'स्कूल आफ लव' ब्रोन्जिनो का 'वीनस, क्यूपिड, फॉली एण्ड टाइम' भी मौजूद थे और यह उसका कर्त्तव्य था कि अपना रोष व्यक्त करते समय उसने इन्हें भी शामिल कर लिया होता अन्यथा इन्हें छोड़ देने के कारणों की व्याख्या की होती।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि रुबेन्स के 'जजमेण्ट आफ पेरिस' की तुलना में किसी पत्रिका के मुख पृष्ठ की लड़की का चित्र बहुत ही निम्न कोटि का शिल्प है लेकिन ऐसा केवल एक कारण से है और वह यह है कि यह एक ही तरह के सह-संयोजनों को उत्तेजित कर सकता है। यह इसका एक गुण है। इसकी तुलना में रुबेन्स का चित्र अनेकों प्रकार के सहसंयोजनों को उत्तेजित करता है। इसका

मतलब यह नहीं कि रुबेन्स के चित्र म देखने लिये कुछ अधिक ह अपितु इस कारण कि रुबेन्स अपने चित्र के प्रत्येक तत्व में एक सार्वभौमिक रंग भर सका है जिसके कारण इस प्रकार की सार्वभौमिकता से युक्तग्रहणशील मस्तिष्क ही इसका पूर्ण आनंद उठा सकता है यद्यपि पत्रिका के मुख पृष्ठ के समान भी कुछ ऐसे तत्व है जिनका दुनियादार भी पूर्ण आनंद उठा सकता है।

आनंद की 'पूर्णता' बहुत महत्वपूर्ण शब्द है। सिद्धान्त मे केवल कलाकार ही सृजन-प्रक्रिया के दौरान इसका पूर्ण आनंद उठा सकता है क्योंकि विचारों और सवेगों के जितने छायारंश इसमें हैं उन्हें केवल वही जानता है लेकिन सामान्यत कलाकार कलाकृतियों का घटिया किस्म का आनंद उठाने वाला होता है। अपने विचार और संवेग की गहनता के द्वारा ही वह दूसरे कलाकारों के विचार और संवेग की गहनता के प्रति अन्धा हो जाता है। पारिभाषिक रूप में वह अत्यधिक गहन किंतु संकीर्ण संवेदनाओं वाला व्यक्ति होता है। इतिहास ऐसे महान कलाकारों के अनेकों उदाहरण देता है कि जो अपने समकालिक अन्य महान कलाकारों की कृतियों के साथन्याय नहीं कर पाये। कला का 'पूर्ण' आनंद वही आदमी उठा सकता है जो अनुभव समृद्ध हो। प्रतिभा समाज के किसी भी वर्ग मे जन्म ले सकती है लेकिन प्रतिभा की ठीक पहचान के लिये पूर्ण जीवन—'शिक्षा' सहित—की आवश्यकता होती है। और अत्यन्त व्यापक और समृद्ध अर्थ मे शिक्षा ही मनुष्य को उन अनुभवों को संचित करने की प्रेरणा देती है जो जैविक उपयोगिता से रहित होते हुये भी कलात्मकता के लिये अपरिहार्य होते हैं।

पत्रिका के मुख पृष्ठ पर बनी हुई लड़की की तस्वीर के पूर्ण आनंद के लिये अत्यन्त सरलरूप के सेक्स अनुभव की आवश्यकता होगी; लेकिन रुबेन्स के चित्र के आनंद के लिये सेक्स-अनुभूति के अतिरिक्त वृक्षों की वीर्यता, मयूर के घमण्ड, आकाश के व्यवस्थित उखड़ेपन, दूर के खेतों पर पड़ने वाले प्रकाश की सौम्यता, घास की हरियाली और चट्टानों की कठोरता और सबसे ऊपर, भौतिक जीवन की व्यग्र उलझन और विपुलता का अनुभव भी आवश्यक है। और ये सारे अनुभव भी उन संवेगीय स्तरों की तुलना में सतही हैं जिन तक कला की पहुच होती है। ऐसे स्तरों तक पहुँचने वाले कलाकार मुश्किल या अलोकप्रिय नहीं होते। पियरो डेला फ्रेसेस्का ऐसा ही चित्रकार था जो—उस स्तब्ध अलौकिक तनाव के कारण, जिसमें जीवन का सारा ऐन्द्रिक और वीर्यात्मक आनंद घुला दिया गया है और एक प्रकार का चाक्षुष यौन, एक खाली आशा छोड़ दी गई है—कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा इस कारण नहीं है कि वह बहुत गहरे बेधता है अथवा अत्यधिक मांग करता है बल्कि इसका कारण यह है कि अपनी

अंश बन गये हैं जहां प्रत्येक वस्तु अपनी विशिष्टता खोकर सामान्य बन जाता है। सेब अथवा पेड़ अपना तात्कालिक संदर्भ खो देते हैं। वे एक दूरस्थ संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं जहां पहुंच कर सेब अपनी अस्मिता खो देता है। यही दूरस्थ संसार जो गणित का संसार है और जो ठंडा, व्यवस्थित, अमानवीय परन्तु जादुई होता है, प्रत्येक कलाकार का अंतिम गंतव्य होता है। प्रत्येक कलाकार ऐन्द्रिक-संसार से इस संसार की ओर अपनी जोखिम भरी यात्रा प्रारंभ करता है। प्रत्येक कलाकार अपने यात्रा-क्रम में एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचता जहाँ से आगे जाने की हिम्मत वह इस भय की वजह नही करता कि कही ऐन्द्रिक-जीवन से उसका संबंध कट ना जाय। सेब को वह कितना पीछे छोड़े, अपने विशिष्ट सेब की पहचान को भुलाये बिना वह तारा-क्षेत्र के कितने निकट जा सकता है, पूर्ण व्यवस्था और समरसता वाले संसार की ओर यात्रावस्थित वह कितनी दूर तक अपने ऐन्द्रिय-संसार की मटियाली गंध को कायम रखे,—ये कुछ ऐसी समस्यायें हैं जिनका समाधान प्रत्येक कलाकार को अपने लिये करना पड़ता है और समाधान करते समय यदि उसे इस ज्यामितीय ससार में अपनी संसक्ति कुछ अधिक रुढ़ लगे तो उसे यह भी अपनी जोखिम पर मालूम हो जायगा कि यह उसके अनुभव के कुछ स्तरों को ग्रहण करने से इन्कार भी कर देता है। उदाहरण के लिये क्यूबिस्ट चित्रकारा द्वारा आविष्कृति रूप विधान और गतियां उन अनुभवों को ग्रहण करने में अक्षम है जो रुबेन्स के लिये प्रिय थीं। स्पष्टतः इनका विकास जान-बूझ कर किया गया था क्योंकि क्यूबिस्ट चित्रकारों के कथ्य को सम्प्रेषित करने के वे ही आदर्श माध्यम थे लेकिन रुपात्मक समरसता के संसार की ओर यात्रा करने वाले कलाकार को ये इतने दूर तक लेकर चली जाती है कि वह ऐन्द्रिक संसार से अपने को कटा हुआ महसूस करने लगता है। स्वयं क्यूबिस्ट चित्रकारों को भी ऐसा अहसास हो गया था कि उन्होंने बहुत कुछ छोड़ दिया है क्योंकि अनुभव के तमाम ऐसे स्तर थे जिन्हें व्यक्त करना उनके माध्यम के बूते के बाहर था। इस शाश्वत समस्या से दो-चार होने वाले कलाकार यह जानते है कि रुपविधान के लिये उन्हें कुछ त्याग अवश्य ही करना पड़ेगा; इस समस्या का समाधान त्याग करने की उनकी शक्ति पर ही निर्भर करता है और उनका त्याग अपना मूल्य ग्रहण करता है कला के जीवन के प्रति उनके प्रेम की गहनता से। पूरी दूरी तय करना रुबेन्स के लिये असंभव और माँड्रियन और अमूर्त चित्रकारों के लिये सरल है क्योंकि वे गणितीय गंतव्य की ओर अपनी यात्रा में सम्पूर्ण दृश्य-जगत को फेंक देने के लिये तैयार रहते हैं। वे जीवन को इतना अधिक प्रेम ही नहीं करते कि वे यह महसूस करें कि वे हल्के होकर यात्रा करते हैं और गंतव्य पर खाली हाथ पहुँचते हैं, और इसीलिये उनके क्षेत्र

म सेब की सारी एन्द्रिकता समाप्त हो जाता है व निमम सिद्धान्तवादा होत है जो यह नहीं समझते कि गतंव्य तक पहुंचने की अपेक्षा गतंव्य की ओर यात्रा करते रहना महत्वपूर्ण होता है। उनका त्याग, त्याग की संज्ञा के योग्य नहीं क्योंकि वे अपने को यह कहकर संतोष दिलाते हैं कि उन्होंने जो कुछ पीछे छोड़ा है वह मूल्य-हीन था। उनकी कृतियों का पूर्ण आनंद उठाना अपने दिन प्रति दिन के संयोजनो के मार से दबे हुये दुनियादार आदमी के लिये मुश्किल हो सकता है लेकिन सौंदर्य प्रेमी व्यक्ति के लिये जो कलाकारों की ही भांति हल्की यात्रा करता है, यह आसान होता है।

फिर गणितीय आनंद क्या है जिसे शुद्धतावादी सौंदर्य का मूल कहता है? निरपेक्ष सौंदर्य को सापेक्ष सौंदर्य से अलग करने वाले सिद्धान्त की तलाश में प्लेटो ने यह निर्णय किया कि **अपने आप में** एक मात्र सुन्दर रुप विधान है सीधी रेखायें, बक्र रेखायें और चाक, पटरी, गुनियां द्वारा पैदा किये जाने वाले धरातल या कड़े रुप। उनके विचार में इनका आनंद इच्छा की उत्तेजना पर निर्भर नही करता।

ऊपर से देखने पर यह सिद्धांत ठीक लगता है लेकिन इसमें इच्छाजनित विश्वास की गंध आती है। वह दार्शनिक जो निरपेक्षता की तलाश में रहता है उसके लिये यह स्वाभाविक ही है कि वह यह तलाश सावयविक जीवन के बदलते हुए रूपों के मध्य न कर गणित की उस रूढ़ दुनिया में करता है जहां केन्द्र हमेशा परिधि से बराबर दूरी पर रहता है। प्लेटो का कहना है कि इन रुपो पर चिंतन अपने आप में आनंददायक होता है।

ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि संतुष्ट इच्छा के परिणाम के अतिरिक्त आनंद और कोई वस्तु है। बिना क्षुधा के, क्षुधा की सारी अतृप्ति के बिना सुख का अस्तित्व कैसा? और यदि प्लेटो अपनी ही बात का विरोध कर यह मान लें कि गणितीय संबंधों पर मनन करने की एक बुनियादी इच्छा होती है और विशुद्ध कलात्मक आनंद इसी प्रकार के चिंतन से मिलता है तो भी यह प्रश्न रह जाता है कि यह इच्छा कहां से आई और यदि उनका उत्तर यह हो कि इसके विभिन्न अंशों के पारस्परिक संबंधों—वृत्त के केन्द्र और परिधि में सबध, अथवा किसी रेखा के विभिन्न उपविभागों के बीच का संबंध, जिसके द्वारा हम किसी रेखा की वक्रता आदि का निर्णय करते हैं—को समझे बिना यह विश्व रहस्यपूर्ण ही रह जायेगा और कि जिस सीमा तक एक अव्यवस्थित संसार अगम्य होता है और इसी लिये असहनीय भी तो एक व्यवस्थित विधि पालक, गणितीय संसार असहनीय का ठीक विलोम होगा तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि वृत्त पर चिंतन करने का सुख एक मनुष्य पर चिंतन करने के सुख

से बुनियादी रुप म भिन्न नही होता। परिमाण म अतर होगा, इसका गणितीय सिद्धांत भी सरल होगा, यह अनेकों क्षुधाओं के स्थान पर एक क्षुधा को शात करेगा, अपेक्षाकृत यह संयोजनों से मुक्त होगा है, एक मनुष्य की भांति यह समभित होता है और मनुष्य की भांति यह बोल नहीं सकता। इसीलिये चाक्षुष व्यवस्था के लिये एक इच्छा को यह संतुष्ट कर सकता है लेकिन दूसरी तरह की व्यवस्था के लिये इच्छा को नहीं। लेकिन मेरे विचार से यह संतुष्टि वास्तव में संयोजन-जनित संतुष्टि ही है। वह कलाकृत्ति जो अपने को शुद्ध गणित तक सीमित कर लेती है सुखदायक इसलिये होती है क्योंकि यह हमें व्यवस्था और स्थिरता के आनंद की याद दिलाती है। यह उसी अर्थ में 'शुद्ध' होती है कि इसके संयोजनों को निम्नतम स्तर तक कम कर दिया जाता है। यह परिकल्पना कि कहीं-न-कहीं शुद्ध सौंदर्य नाम की चीज अस्तित्व में है, जो जीवन से कटी हुई एक ऐसे संसार के रुप में है जो आंखों की स्वाभाविक क्षुधा को शांत करता है और मस्तिष्क अथवा स्मृति से इसे किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नही होती, निश्चित ही असान्य है। किसी कलाकृति में अन्तर्निहित गणितीय रुप का सही कार्य सहज व्याख्यापरक और साथ ही अबोधगम्य दोनों है।

किसी कला-कृति में सौन्दर्य का मुख्य आधार इसके द्वारा मानव अनुभवो के भार को सहन करने की शक्ति में निहित होती है ठीक उसी प्रकार जैसे अस्थि-पजर अपने आप मे नाजुक होते हुए मांस, पेशियों, नाड़ियों, त्वचा आदि जैसे अनिवार्य तत्व अपने उपर लिये रहता है।

हम किसी चित्र की ओर देखते समय इसके रुप को ही देखते हैं क्योंकि देखने के लिये इसमें और कुछ होता ही नहीं। कविता-पाठ सुनते समय हम आवाज के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनते। फिर रेखा और रंग पर स्थित आख, अक्षरों के अनुक्रम के प्रति क्रियाशील कान धीरे-धीरे एक गति, स्थान अथवा काल में चलती हुई एक गणितीय नाड़ी समझना प्रारंभ कर देते हैं। कलाकार ने जिसे सृजित किया था उसका हम पुनः सृजन करना प्रारंभ कर देते हैं—काल मे अपनी ही हृदय गति से, अपने ही पदाक्षेप की प्रतिध्वनि से इसे संबद्ध करते हुये, स्थान में अपने शरीरों के अनुपात से फूलों से भरे हुए मैदान के पैटर्न से, देवदार की ऊपर उठती हुई कुलांच से और क्षितिज की स्तर रेखा से इसे संबद्ध करते हुये।

आंख अथवा कान दृश्यों और ध्वनियों की इस गणितीय दुनिया का ज्यो ही अन्वेषण प्रारंभ करते हैं त्यों ही एक प्रकार का अर्थ रुप ग्रहण करना प्रारभ कर देता है। धीरे-धीरे अस्थि-पंजर मांसलता ग्रहण करने लगता है। कविता

की गत्यात्मकता और हृदय का गत्यात्मकता, चित्र की .र . . . .. और देव दारुवृक्ष की गत्यात्मकता दर्शक की निगाह में परस्पर संबद्ध हो जाते हैं और इसी सम्बद्धता के माध्यम से ही उसे मालूम पड़ जाता है कि एक दूसरा मनुष्य उससे कुछ कह रहा है और कि उसके कानों ने भी हृदय की धड़कन सुनी है और उसकी आंख ने भी वृक्ष के उर्ध्वोन्मुख तने को देखा है। संयोजन की प्रक्रिया, दो प्रकार के अनुभव-क्रमों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया इस प्रकार प्रारभ हो चुकी होती है—यह पहचान उजागर होने लगती है कि जीवन ने ही कलाकार के हृदय में एक चिंतनात्मक उत्तेजना को जन्म दिया है और कि यह उत्तेजना ऐसे रूपों और ध्वनियों के माध्यम से व्यवस्थित कर ली गई है जिनके पारस्परिक संबंध को दर्शक समझ सकता है और उसका आनंद उठा सकता है। शीघ्र ही संयोजनों की यह धारा गाढ़ी होने लगती है। इस नैसर्गिक लयात्मक जीवन की पहचान का स्थान इसकी विशिष्ट मनोदशा ले लेती है। शांति अथवा उद्वेलन, आनंद अथवा उदासी, सौम्यता, हिंस्रता, हंसी सौंदर्य के जाल में फँस जाते हैं और ज्यों-ज्यों संयोजनों की अधिकता होती जाती है ये सब स्वयं भी अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट बनते रहते हैं। केवल आनंद ही नहीं अपितु स्वास्थ्य का आनंद, सौम्यता ही नहीं अपितु वसंत की दोपहरी की सौम्यता तब तक बनी रहती है जब तक कि अंत में यदि कलाकार बुलाने में सक्षम है और हम उसकी पुकार को समझने की क्षमता रखते हैं, हम उसके पार्श्व में एक विशिष्ट स्थिति के साथ, अपने बीच पूरी तरह से सजे हुए अस्थिपंजर के साथ, होते हैं।

शिशु ईसु के साथ सेण्ट कैथरीन का विवाह यही था, इसी प्रकार अपनी कार से कूद कर आरियने को बैकस ने अपनी बाहों में भर लिया था, एडम को रचने में इसी प्रकार ईश्वर तल्लीन हुए थे, और अपने राजभवन में फिलिप चतुर्थ एक मेज के सहारे खड़े हुये थे, रोटी का टुकड़ा, शराब से भरा हुआ चषक भी यही है।

क्या इससे कोई फर्क पड़ता है कि ये पैगन—बहुदेवविश्वासी, सामान्यत इसाइयत के प्रादुर्भाव के पूर्व—लोगों के स्वप्न हैं अथवा इसाइयों के प्रतीक—स्पेन के सम्राट का गद्यात्मक आविर्भाव अथवा किचेन-टेबुल में रखी चीजें? निश्चय ही ऐसी कहानियाँ इनके द्वारा कही जाती हैं लेकिन त्वचा के रंग के ही समान उनका भी कोई अधिक अथवा कम महत्व नहीं है। यदि सौंदर्य को फंसाने के लिये ये जाल का काम करते हैं तो हमें उनके भीतर तक अपनी यात्रा करनी चाहिये, अपने साथ प्रत्येक बिंदु पर उन सारे संचित संयोजनों को लिये हुये जिन्हें जीवन की पूर्णता में हमने इकट्ठा किया है। अंत में हम पुनः धड़कते हुये हृदय और बढ़ते हुये वृक्ष के उसी आदियुगीन संसार में पहुंच जाते

हैं और इसे वेधते हुये अमूर्तरुप के उस शुद्ध संसार तक पहुंचते हैं जो कि चित्र है। क्या यह अमूर्त संसार उस सारे भार को धारण कर सकेगा जिसे हमने इकट्ठा किया है ? क्या अस्थिपंजर मांस को टिकाये रख सकेगा, क्या जाल अपने शिकार को फंसाये रख सकेगा ? यदि ऐसा है तो फिर कलाकृति अन्तर्विष्ट करने और हमारी एकत्र करने की शक्ति के कारण सुन्दर होगी।

●

परिभाषाएं

परिभाषाओं का एकमात्र लाभ यह होता है कि लेखक को यह विश्वास हो जाता है कि उसके निष्कर्ष न तो अतार्किक है और नहीं अपनी सीमाओं के भीतर अधूरे। कोई भी परिभाषा परिभाष्य पर कोई प्रकाश नहीं डालती, वह केवल उसे अलग कर देती है।

नीचे की परिभाषायें इसीलिये पाठकों की जिम्मेदारी नही है। इन्हे यहां इसीलिये शामिल किया गया है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि अपनी सीमा तक इस पुस्तक के निष्कर्ष वैध हैं, और वे बहुत दूर तक नही जाते, इसको लेखक सबसे अधिक जानता है।

सौंदर्य तथ्यों का वह पहलू है जो इंद्रियों द्वारा लक्ष्य किये जाने पर और वहां से लक्ष्यक की चिंतनात्मक शक्ति को संदर्भित कर दिये जाने के पश्चात् ऐसी शक्ति रखता है कि वह लक्ष्यक के संचित अनुभव से प्रतिक्रियाओं को जागृत कर सके।

किसी भी स्थिति में इसकी विद्यमानता और गहनता की कसौटी है लक्ष्यक द्वारा चिंतनात्मक स्तर पर अपने अनुभव को दुहराने की इच्छा की अंतुष्टि द्वारा उत्पन्न उसमें सुखानुभूति, ऐसी इच्छा किसी भी स्तर पर अनुभव द्वारा पैदा की जाती है।

इसीलिये दर्शक का अनुभव जितना ही अधिक समृद्ध और चिंतन करने की उसकी शक्ति जितनी ही अधिक होगी उसी अनुपात में सौंदर्य का बोध करने की उसकी क्षमता भी अधिक पूर्ण होगी—और उसी अनुपात में, जैसा कि कहा जाता है, उसकी 'रुचि' अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होगी।

कला में रूपविधान और विषयवस्तु अभेद्य होते हैं : उनका संबंध विभिन्न कोटियों से होता है और अलग-अलग रूप में उनकी परिकल्पना नहीं हो सकती क्योंकि वे एकीकृत रूप में भी परिकल्पित नही किये जा सकते। उनके संबंध को व्यक्त करने का एक ही तरीका यह कहना है कि दोनों एक दूसरे के पहलू है। रूपविधान गणितीय शब्दावली में माप्य विषय वस्तु ही है।

परिभाषाएँ

विषयवस्तु मानव-अनुभव का वह योग है जिसके लिये कलाकार अपनी कृति में एक रूपात्मक समभूलक खोज सकता है।

सारा मानव-अनुभव प्रेम अथवा घृणा की शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है। प्रेम सृजनात्मक और घृणा विध्वंसात्मक शक्ति है। दोनों अपरिहार्य हैं। लिली का फूल रोपना और खर-पतवार निकालना दोनों माली के आवश्यक कार्य हैं।

प्रकृति में कोई विषय-वस्तु नहीं होता क्योंकि उसका रूप मानव अनुभव का समभूलक नहीं है। प्रकृति का रूप गणित द्वारा माप्य शब्दावली में अभिव्यक्त की गई वृत्ति है।

प्रकृति में एकमात्र प्रेम दक्षता का प्रेम है।

वृत्ति रूप का सृजन करती है। केवल जब रूप का चिंतन होता है (अर्थात् जब उसकी परिकल्पना वृत्ति के सभी विचारों से मुक्त के रूप में होती है) तभी उसको सुंदर के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है। पीने की इच्छा हमें प्याले के सौंदर्य के प्रति अंधा बना देती है, प्याले का सौंदर्य पीने की इच्छा क साथ टकराता है। फिर भी प्यास प्याले की जननी है।

टिप्पणियां

माइकेलएँजिलो (1475-1564) —योरोपीय पुनर्जागरणकाल का महानतम चित्रकार और कवि जिसने मूर्तिकला के क्षेत्र में ग्रीकों के पश्चात् प्रतिभा का एक नया कीर्तिमान प्रस्तुत किया। अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उसने कलाकार जीवन को अपनाया और वह प्रारंभ में अपने समय के प्रसिद्ध चित्रकार डानेनिको गिरलैंदाजो के सहकारी के रूप में प्राचीन कृतियों की प्रकृतियाँ बनाता रहा। उसकी प्रारंभिक मौलिक कृतियों में परंपरागत शैली का प्रभाव अवश्य है लेकिन बहुत शीघ्र ही उसने अपनी दिशा निश्चित कर ली थी। प्रारंभ में ही उसे फ्लौरेन्स के तत्कालीन शासक का संरक्षण प्राप्त हो गया। 1494 मे फ्रांस द्वारा फ्लोरेन्स पर आक्रमण करने पर वह वहां से भाग गया। 1496 में उसने रोम की यात्रा की जहाँ उसने 'बेकस' का प्रसिद्ध चित्र बनाया। यही रहकर उसने 'पाइटा' (पवित्र मेरी की गोद में मृत जीसस) की रचना की। अब तक वह पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था और मूर्तियाँ बनाने के अनेकों आमत्रण (कमीशन) उसे प्राप्त हो रहे थे। इस दौर की माइकेलएन्जिलो की सबसे सशक्त रचना है 'डेविड' जिसमें उसने अपूर्व पौरुष की अवधारणा को मूर्त किया है। डेविड को अपने शत्रु गोलियथ की प्रतीक्षा करते हुए अत्यंत रोषपूर्ण मुद्रा में चित्रित किया गया है।

उसकी कलात्मक प्रतिभा का सर्वोच्च शिखर उस समय व्यक्त हुआ जब उसने सिस्टाइन चैपेल की भीतरी छत पर चित्र बनाना प्रारंभ किया। यह नौ चित्रो का एक समूह है जिसमें सृष्टि पूर्व से लेकर नोआ की कथा तक का चित्रांकन है। ये नौ चित्र तीन भागों में विभक्त है :—प्रथम तीन चित्रों का संबंध ईश्वर द्वारा ससार की रचना से है, दूसरे तीन चित्रो में मनुष्य और पाप के जन्म का चित्रांकन है, अंतिम तीन चित्र संसार में पाप के अस्तित्व के विषय में हैं। सिस्टाइन चैपेल के भित्ति चित्रों ने माइकेलएन्जिलो की प्रतिभा की धाक पूरे रोम में जमा दी। इसी चैपेल में उसने लास्ट जजमेण्ट (अंतिम न्याय) और मोजेज की रचना की जिसे देख कर उस समय के प्रसिद्ध चित्रकार वेसारी ने कहा था कि माइकेलएन्जिलों की इन कृतियों की तुलना उस समय तक की किसी भी मूर्ति से नही की जा सकती थी। इनमें से 'लास्ट जजमेण्ट' अपने ढंग का निराला है।

इसका चित्रांकन 48 × 44 क्षत्र में हुआ है जिसे तीन भागों में बाटा गया है— सबसे उपर स्वर्ग जिसके मध्य में वर्जिन मेरी की वगल में जीसस न्याय की मुद्रा में बैठे हैं, बीच में उन लोगों के चित्र हैं जिनका न्याय किया जाना है और अंतिम खण्ड में पापियों एवं पुण्यात्माओं का चित्रण है। 1542 और 1550 के बीच माइकेलएंजिलो ने पालिन चेपेल के भित्ति चित्र बनाए जो 16 वी सदी में बहुत लोकप्रिय हुए।

माइकेलएंजिलों की समस्त कृतियों में एक बात बिल्कुल स्पष्ट है और वह है मानवदेह की उसकी नितांत मौलिक अवधारणा जो उसके काल तक की सभी अवधारणाओं से आगे निकल गई। प्रकाश का सृजन, जीवन का अभ्युदय, पाप का जन्म, न्याय का दिन—इन सभी आध्यात्मिक भावों को उसने अभूतपूर्व कौशल के साथ मानव देह की बदलती हुई गतियों के द्वारा व्यक्त किया है। उसकी पुरुष आकृतियाँ अपनी मांसलता और हड्डियों के घुमाव के कारण अदम्य पौरुष का प्रतीक हैं। एडम में यह तथ्य स्पष्ट है। माइकेलएन्जिलो के विषय मे पेटर के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं।

"माइकेल एन्जिलो के समीक्षकों की उक्तियों से ऐसा लगता है जैसे उसकी प्रतिभा की मुख्य विशेषता एक आश्चर्यजनक शक्ति है जो विशिष्ट अथवा अजनबीपन की सीमा छूती है। इस प्रकार का अजनबीपन सभी कलाकृतियो में निश्चय ही पाया जाता है और यह भी कि ये कृतियां हमें चकित अथवा उत्तेजित करती हैं। लेकिन यह भी अपरिहार्य है कि वे हमें सुख दें और अपने सम्मोहन में बाँध लें। इस अजनबीपन को मधुर होना चाहिये अर्थात् एक प्रकार का प्रेम्य अजनबीपन। और माइकेलएन्जिलो के प्रशंसकों के लिये उसकी यही विशेषता है—माधुर्य और शक्ति, आश्चर्य मिश्रित सुख, अवधारणा की एक ऐसी शक्ति जो रूपविधान को तोड़कर बाहर फूट पड़ने को हमेशा आतुर दिखाई पडती है, प्रत्येक स्पर्श से वह उस सौन्दर्य को प्राप्त करती है जो केवल सरलतम नैसर्गिक वस्तुओं में मिलता है।"

टिटियन (1487—1576) वेनिसी पुनर्जागरणकाल का सर्वाधिक श्रेष्ठ चित्रकार जिसने अपने लम्बे जीवन के दौरान इतालवी कला की विकास की गति को एक नई और मौलिक दिशा प्रदान की। उसने अतीत की कला का गहन अध्ययन किया और अपनी प्रतिभा के सहारे उसने अपने समकालीन अनेकों कलाकारों को बहुत पीछे छोड़ दिया। इतालवी चित्रकला में उसने क्रान्ति पैदा कर दी। चित्रकला की जो भी शैलियां उस समय प्रचलित थीं उसने सब में अपनी प्रतिभा को आजमाया और उन शैलियों को संवार कर उन्हें एक नया रूप प्रदान किया

बीच में कुछ शिथिलता अवश्य आई लेकिन जीवन के 50 वर्ष पूरा होते ही प्रतिभा और मौलिकता का एक नया दौर आया जब उसने अपनी युवक-कालीन अवधारणाओं को पुन: प्राप्त कर लिया। जीवन के अंतिम चरण में अकेलपन और कड़ुवाहट तथा अवसाद से भरे हुए इस कलाकार ने प्रचलित रुचि की उपेक्षा करते हुए चित्रकला शैली में एक नया उन्मेष पैदा किया। इस दौर के उसके चित्रों में उदासी और अकेलेपन का हल्का स्पर्श है।

टिन्टोरैटो :—(1518—1594) इतालवी पुनर्जागरणकाल का महान चित्र-कार जिसकी पहली महत्वपूर्ण कृति थी 'इंस्टीट्यूशन आफ यूकारिस्ट' जिसमें उसकी शैली के सभी गुण पाए जाते हैं:—पूर्णताप्राप्त रूपांकन, प्रखर तूलिका चालन, नाटकीय प्रभाव पैदा करने के लिए रंग और प्रकाश का संवेदनशील प्रयोग और अतीत की परम्परा का सचेतन प्रयोग। माइकेलएंजिलो और टिटियन से भी वह प्रभावित हुआ था। इसके चित्रों की एक प्रमुख विशेषता है उनकी वर्णना-त्मकता। वेनीशियन चित्रकला में मैनरिस्ट युग का वह प्रधान चित्रकार माना जाता है और उसकी कृतियों में बैरक शैली का पूर्वाभास मिलता है। पाश्चात्य चित्रकला में वह महान सज्जापरक चित्रकार के रूप में जाना जाता है।

कारपैशियो (1460-1525) प्रारंभिक वेनिस स्कूल का महान् वर्णन प्रिय चित्रकार। कारपेशियों की अमर कृतियों में है 'क्राइस्ट बिद फोर डिसाइपुल्स'। उसके अन्य चित्र भी मुख्य रूप से धार्मिक कथाओं से सम्बन्धित हैं। इनमें उसकी मौलिकता, वर्णन क्षमता और प्रकाश-योजना का ज्ञान होता है। 19 वीं सदी मे रस्किन ने उसके मूर्ति-चित्रण और उसके चित्रों के मोहक वातावरण की काफी प्रशंसा की थी लेकिन बीसवीं सदी में उसके इन गुणों को संयोग ही माना जाता है और उसकी शैली में गंभीरता और मौलिकता को मुख्य माना जाने लगा है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता और गहन करुणा के भावों को चित्रित करने के अतिरिक्त वह 'नगर परिदृश्य' का प्रथम और महानतम् चित्रकार माना जाता है।

ब्रोंजिनो (1503-1672) फ्लोरेन्ताइन चित्रकार और कवि जो अपने व्यक्ति-चित्रों के लिये प्रसिद्ध है जो दरबारी आदर्श के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्र माने जाते हैं। उसकी शैली पर माइकेलएन्जिलो और रेफेल का प्रभाव है और उसे प्राय: मैनरिस्ट चित्रकारों की श्रेणी में रखा जाता है। उसके व्यक्ति-चित्र इस शैली के चित्रांकन के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उसके धार्मिक चित्र भी प्रभावशाली हैं।

वेरानीज (1528-1588) उसके प्रारंभिक चित्रों में ही उसकी प्रतिभा की भावी विकास दिशा का अनुमान हो जाता है। उसके चित्रों में मूर्तिकला और मानव आकृतियों का आश्चर्यजनक संधान उसकी सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। मैनरिस्ट चित्रकारों का भी उसपर प्रभाव है। उसकी शैली के प्रमुख गुण है

विस्नन रूप विधान और स्वच्छ चित्रांकन ठड और स्पष्ट रंगो के प्रति लगाव जो अपनी सौम्यता के बावजूद भी हल्केपन का आभास देते हैं, द्विआयामीय पैटर्नों के प्रति लगाव, स्थापत्य-चित्रण की स्पष्टता और सौम्य, सुसंस्कृत व्यक्तियो के अनुरूप मानव आकृतियाँ। वेरानीज की कला पुनर्जागरण कला के सुखवादी दौर का सर्वोत्तम उदाहरण है। 'फीस्ट इन लेवीज हाउस' को देखकर उस समय के कला मर्मज्ञों ने इसमें कुछ परिवर्तन करने के लिए वेरानीज से कहा था जिसे उसने मान लिया था। उसके धार्मिक चित्रों में भी सांसारिकता के प्रति उसका मोह स्पष्ट है।

मॉनेट (1840-1926) फ्रेंच चित्रकार 'खुले आकाश' का चित्रण करने वालों का अगुआ और प्रभाववादियों का प्रखर पक्षधर। विस्तृत समुद्र और फैला हुआ आकाश उसके प्रिय विषय थे जिनको लेकर उसने अनेकों चित्र बनाये। 1874 में रेनोइर, पिसारो, बोदिन, सेज़ाँ, देगा और अन्य कलाकारों के साथ मोने-टने पेरिस में अपने चित्रों की एक विशाल प्रदर्शनी की। और तभी से योरुप के कला-इतिहास में प्रभाववाद का प्रारंभ माना जाता है। नदी भी उसके प्रिय विषयों में एक थी और साइन नदी को लेकर उसने पूरी एक चित्र श्रृंखला ही तैयार कर डाली थी।

मैंतेग्ना (1431-1506) पंद्रहवीं सदी का महानतम् भित्ति चित्रकार। चित्रकारी की शिक्षा पडुआ के एक चित्रकार से ग्रहण कर वह शीघ्र ही स्वतंत्ररूप से चित्रकारी करने लगा। उसने फ्लोरेंस शैली का गंभीर अध्ययन किया था और इसका प्रभाव उसके प्रारंभिक भित्ति चित्रों में स्पष्ट है। 1553 मे उसे एक और चर्च में चित्र बनाने का निमंत्रण मिला। 1559 में वह मांटुवा के शासक का राज चित्रकार नियुक्त हुआ। उसके भित्ति चित्रों से यह ज्ञात होता है कि वह प्रथम श्रेणी का व्यक्ति-चित्रकार था। उसके चित्रों में उसकी मौलिकता और सतत् अन्वेषणशील प्रतिभा का पता चलता है। उसके कुछ प्रमुख चित्र मेडोना से सम्बद्ध हैं।

जियोवेनी बेलिनी (1430-1516) एक ऐसे परिवार में पैदा हुआ था जिसने वेनिस चित्र कला को तीन महान् चित्रकार दिये। पिता जेकोपो बेलिनी और बड़े भाई जेन्टील बेलिनी से कही अधिक प्रतिभाशाली जियोवेनी बेलिनी के प्रारंभिकचित्रों पर उसके बहनोई मैन्तेग्ना का गहरा प्रभाव पाया जाता है। और यह प्रभाव तबतक रहा जबतक 1560 में मैंतेग्ना मांटुआ का राज-चित्रकार होकर रोम नहीं चला गया। 'एगनी इन दि गार्डेन' संभवतः उसने मैंतेग्ना की प्रतिद्वन्दिता में बनाया था और दोनो चित्र लन्दन के राष्ट्रीय संग्रहालय में एक साथ लगे हुए हैं।

डूसियो (1255-1319) इतालवी चित्रकार और साइनीज स्कूल का प्रथम महान् चित्रकार जिसने अनेक धार्मिक चित्र बनाये। 'वर्जिन एण्ड चाइल्ड' उसकी एक प्रारंभिक कृति है। 1308-11 के बीच बनाये गये 'मैस्टा' (Maesta) शृंखला के उसके चित्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यही एक ऐसा चित्र है जिसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। इसके सामने एक चौड़ा चौखटा है जहाँ संतों और देव पुत्रों से घिरी हुई वर्जिन और शिशु जीसस की मूर्ति अंकित है, इसके नीचे क्राइस्ट के जीवन से सम्बद्ध सात चित्र हैं। कुल मिला कर इसमें 19 वृत्तांत-चित्र हैं। इस चित्रकारी ने लगभग 150 वर्षों तक साइनीज शैली को प्रभावित किया।

ड्यूफी (1877-1935) फ्रेंच चित्रकार और डिजाइनर जो तैरती हुई नौकाओं, स्नानार्थियों, रेसकोर्स और रंग बिरंगे चित्रों के कारण मशहूर है। वह प्रभाववादी और उत्तर प्रभाव वादी शैली से प्रभावित है। वह वान गाँग से भी काफी प्रभावित हुआ था। चित्रकारिता के अतिरिक्त उसने काष्ठ कला, मृत्तिका कला और फैशन-डिजाइन में भी उसने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

सेजाँ (1839-1906) 19 वीं सदी के फ्रेंच चित्रकारों में सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाम जो एक बैंकर पिता का पुत्र और प्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार जोला का मित्र था। शीघ्र ही वह एक चर्चित चित्रकार के रूप में विख्यात हो गया और शासनाधिकृत कला शैली की उसने निर्मम आलोचना की। इस प्रकार वह प्रभाववादी कलाकारों के सम्पर्क में आया। उसकी कला पर दलाक्रवा, रुबेन्स और टिन्टोरेटो का प्रभाव पड़ा। वह अपनी कला में अपनी मनःस्थितियों का भव्य चित्रांकन करने के पक्ष में रहता था और इसीलिए उसके चित्रों में रंगों की हिंस्रता और विषय की नाटकीयता सदैव रही। उसके प्रारंभिक चित्रों की तूफानी हिंस्रता उसके काल्पनिक जीवन के तनावों का अच्छा परिचय देती है। 1872-73 में सेजाँ की शैली में गंभीर परिवर्तन हुआ। पिसारों के सम्पर्क में आकर उसने प्राकृतिक दृश्यों के कौतूहल और गंभीरता को परखा लेकिन दृश्यमान आभासों के भीतर की गहराई को चित्रित करने वाला प्रभाववादियों में वह अकेला था। उसका यह विश्वास था कि जो कुछ दृश्यमान है उसके पीछे एक ऐसा यथार्थ छिपा है जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और मानव प्रकृति की गहन तर प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। उसकी दृष्टि का अनुमान उसके इस कथन से लगता है कि वह प्रभाववादी शैली के द्वारा प्राकृतिक दृश्यों को एक रुपात्मक एकसूत्रता प्रदान करना चाहता है। आगे चलकर उसकी शैली में अनेका मोड़ आये लेकिन उसकी इस बुनियादी धारणा में अन्तर नहीं पड़ा।

बियर्ड्सले, आबरी विन्सेन्ट (1872-1898) 19 वीं सदी के अंतिम दशक

का अत्यधिक चर्चित अंग्रेजी कलाकार जो आस्कर वाइल्ड के साथ अपनी मित्रता और अपने परम्परा विरोधी चित्रों के कारण बहुत अधिक चर्चित रहा। 6 वर्षों की अवधि में उसने आश्चर्यजनक नवीनता से ओत-प्रोत अनेकों शैलियों का आविष्कार किया। 1892 में उसे टामस मेलोरी की प्रसिद्ध पुस्तक मोर्ते दार्तुर को सजाने का कार्य मिला और 1894 में वह प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका **दियलो बुक** का कला-सम्पादक नियुक्त हुआ। दियेलोबुक मे उसके चित्रों और आस्करवाइल्ड के विख्यात नाटक 'सेलोमी' पर आधारित उसके चित्रों ने उसे काफी चर्चित कर दिया। उसकी नारी-आकृतियों की कामुक मुद्रा ने उस समय तहलका मचा दिया था।

पियरो डेला फ्रेन्सेस्का (1420-1492) इतालवी चित्रकार और 15 वी सदी के इतालवी कला जगत का सर्वाधिक सम्मान्य हस्ताक्षर जो आजीवन अपनी जन्मभूमि के साथ भावुक बंधनो से जुड़ा रहा। उसकी आरंभिक कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं लेकिन इतना निश्चित है कि उसके उपर साइनीज शैली का गहरा प्रभाव पड़ा था। तत्कालीन फ्लोरेंन्स की बौद्धिक चेतना से जुड़ा हुआ यह कलाकार गणितीय चित्रांकन के क्षेत्र में प्रमुख माना जाता है। उसके भित्ति चित्र आज भी लोक प्रिय है। आधुनिक चेतना उसके निकट इसलिये है कि उसके चित्रों में एक अमानवीय शान्ति है। 'पुनर्जन्म' सम्बन्धी उसके भित्ति चित्र उसकी गणितीय प्रतिभा के सबूत हैं।

स्यूरा, फ्रेंच चित्रकार और चित्रकारों के छोटे से समूह नव-प्रभाव-वादियों का अगुआ। प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक सत्य और सिद्धांत के प्रति अपने आकर्षण के कारण एकेडेमी चित्र-शैली को त्यागने पर वह विवश था; और साथ ही वह मोनेट और उसके साथियों की इस धारणा को भी पार कर गया कि चित्रों में सतत् पलायित होने वाली भाव-स्थितियों का चित्रा-कन होना चाहिये। परिणाम यह हुआ कि इजल-पेन्टिंग के लिये एक नये और वैध स्तम्भ लेख का आविष्कार जिसने एक सुदृढ़ संरचना को स्थापित किया और विषय के रूपात्मक मूल्य को पुर्नस्थापित किया। अपनी मृत्यु के समय तक स्यूराने ७ स्तम्भ-चित्र, ४० चित्र और स्केच और लगभग 500 ड्राइंग बनाकर चित्रकला के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

पामर, सेमुअल (1805-1881) परिदृश्य चित्रकार और अंग्रेजी कवि विलियम ब्लेक का मित्र। उसके परिदृश्यों की विशेषता है प्रकृति का रहस्य-पूर्ण परन्तु सटीक चित्रांकन और ग्रामीण परम्पराओं से जुड़ी हुई गहरी धार्मिक भावना। विलियम ब्लेक से उसकी भेंट 1824 में लिनेल के माध्यम से हुई और

तभी से ब्लेक ने अपनी रहस्यवादी कविताओं और चित्रांकनों से उसे प्रभवित किया ।

पिकासो (1881) स्पेनी चित्रकार, मूर्तिकार, उत्कीर्णक, बीसवीं सदी का महानतम् और सर्वाधिक मौलिक कलाकार और क्यूबिस्ट आन्दोलन का जनक । उसकी असाधारण प्रतिभा का संकेत उसके जीवन के प्रारम्भिक काल मे ही मिल गया था । उसने अपने चित्रकार पिता से शिक्षा ग्रहण की और फिर अपना मार्ग-दर्शन स्वयं किया । उसका प्रथम उल्लेखनीय चित्र था साइन्स एण्ड चैरिटी । 1904 में वह पेरिस में जाकर बस गया । 1899-1905 के बीच का समय उसकी प्रतिभा का स्फुटन काल था जिस दौरान उसने यथार्थ जीवन के चित्र, प्रतीकात्मक चित्र या फिर अपनी, अपनी बहन या अपने मित्रों के स्नेह-पूर्ण परन्तु अत्यन्त कलात्मक व्यक्ति-चित्र बनाये । प्रारम्भ में उसने गहरे, चटख रंगो का प्रयोग किया, फिर मुख्य रूप से नीले रंग में चित्र बनाये । 1901 तक उसके प्रिय विषय थे जाने-पहचाने बुर्जुआ जीवन के चित्र लेकिन शीघ्र ही उसने इस सीमा से आगे निकलकर वैश्याओं, भिखारियों, पियक्कड़ों, अंधो, विकलांगें जैसे समाज से निष्काषित प्राणियों को अपने कला संसार में स्थान दिया । कोणों और प्रसर कोणों तथा थकी हुई आँखों का पूरा उपयोग करते हुये पिकासो ने इन एकान्तभोगी और पीड़ित आकृतियों के द्वारा एक अत्यन्त ही भावपूर्ण मेनेरिस्ट चित्रकला को जन्म दिया । 1905 में उसने कोमलता और स्नेह के चित्रण के लिए अनुकूल रंगों का प्रयोग किया । उसके विषय-निर्वाचन और शैली में आये इस प्रकार के त्वरित परिवर्तनों का कारण यह था कि पिकासो आजीवन यथार्थ को सूक्ष्मता से चित्रित करने के लिये अनेकों कोणों और दिशाओं से इसे देखता रहता था । 1906-7 में उसने यह महसूस किया कि पारम्परिक शैली के पूर्ण त्याग के द्वारा वह अवधारणात्मक प्रक्रियाओं के माध्यम से वस्तुओं का अपेक्षाकृत अधिक सही चित्रांकन कर सकता था । 'दामीजोल दाविन्योन' उसके इस प्रयास का पहला फल है जिसमे उसने पुनर्जागरण काल की भ्रमित करने वाली शैली को उलट दिया और एक ऐसी चित्रांकन पद्धति की नींव डाली जो बदलती हुई दृष्टि, रंगों के स्वतन्त्र चुनाव, और आंखों से जो कुछ दिखाई पड़ता है उसकी अपेक्षा कलाकार जो जानता है उसे चित्रित करने पर आधारित है । चित्रकला की इस प्रकार एक नई कल्पना की जिसे क्यूबिज्म कहा जाता है, शुरूआत हुई जिसे 1925 तक पिकासो सुधारता रहा । उसने क्यूबिज्म का आविष्कार प्रकृतिवाद के विकल्प के रूप में किया था ।

1915 में पिकासो ने फिर प्रकृतिवादी शैली में चित्र बनाना प्रारम्भ कर दिया और तब से लेकर अपने जीवन के अंत तक वह प्रकृतिवाद और क्यूबिज्म दोनों शैलियों का अदल-बदल कर प्रयोग करता रहा। पिकासो के विषय मे जरट्रूड स्टाइन के ये शब्द सटीक बैठते है "सिर, चेहरा, मानव देह—पिकासो के लिये इन्हीं का अस्तित्व है। लोगों की आत्माओं में पिकासो की रुचि नहीं, जीवन का यथार्थ सिर, चेहरे और देह में ही निहित है।"

वॉन गॉग (1853-1890) रेम्ब्रा के पश्चात् के युग का महान् क्रान्तिकारी कलाकार जिसने दस वर्षो के अल्पकालीन सृजन काल में चित्रकला के इतिहास में अभूतपूर्व क्रान्ति कर दी। उसके चित्रों में जलरंग चित्रों और चित्रांकनों की अधिकता है। 1884 से 1890 के बीच इसने लगभग 1500 चित्र (800 तैल चित्र और 700 ड्राइंग) की रचना की। अत्यधिक गरीबी और अभाव का जीवन बिताते हुये भी अपनी प्रतिभा में विश्वास के सहारे वह अपने कार्य में लगा रहा। उसके रचना काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला 1873-84 तक का समय वह दौर था जिसे अनगिनत अभ्यासों, असफलताओं और दिशा परिवर्तनों का समय कहा जा सकता है। 1886-90 तक का समय उसकी प्रतिभा के आश्चर्यजनक प्रस्फुटन और महान उपलब्धियों का दौर था। जीवन का अन्तिम एक वर्ष गहन मानसिक यातना का वर्ष था जिसका अन्त वानगाग की आत्महत्या से हुआ। आत्महत्या के समय वॉन गॉग का नाम चित्रकला की दुनिया में अजाना ही था। उसके चित्रों की प्रदर्शनियाँ भी अधिकतर मरणोपरांत ही हुईं। उसके जीवन काल में कला-समीक्षकों ने उसकी कृतियों पर कोई ध्यान नहीं दिया। लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से उसकी चर्चा बराबर होती रही है। बीसवीं सदी के लगभग सभी कलाकारो, पिकासो, मातिसे, दिरें आदि उससे प्रभावित हुये हैं।

वानगॉग के चित्रों की विविधता उसकी बदलती हुई मनःस्थितियों की साक्षी है। 1874 में प्रेम की असफलता के पश्चात् जीवन के प्रति उसका दृष्टि कोण बहुत ही निराशा जनक और क्षुब्ध हो गया और फिर एकांतिकता की भावना उसे कुरेदती रही। फिर वह धर्म की ओर मुड़ा लेकिन कट्टरपना से प्रारम्भ से ही घृणा होने के कारण वहां भी सफलता नहीं मिली। यह दूसरा आध्यात्मिक संकट था। तभी उसने यह निश्चय किया कि वह कला के द्वारा मानवता की सेवा करेगा क्योंकि वह अपनी प्रतिभा जानता था। अपनी प्रतिभा की इस पहचान से उसे बड़ा संतोष मिला। प्राकृतिक दृश्यों और किसानों में उसकी रुचि बढ़ी और वह बराबर एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमता रता। इस

दौरान उसने स्टिल लाइफ़, परिदृश्य और आकृति का चित्रांकन किया और इन सबका सम्बंध किसानों की जिन्दगी से था। यही कारण है कि उसके चित्रो में 'समाज शास्त्रीय दृष्टि' स्पष्ट है। ग्रामीण परिवेश के उसके चित्रों में यथार्थ-परकता के साथ ही व्यक्तिनिष्ठता भी है।

1888 में पेरिस पहुँच कर उसने उत्तर-प्रभाववादी चित्रकारों को इकट्ठा करने का प्रयास किया। इस बीच वह अनवरत रूप से चित्रांकन में लगा रहा। शारीरिक श्रम और मानसिक तनाव के बढ़ने के कारण वह अधिकाधिक अधीर होता जा रहा था। 1889-90 का समय उसने एक मानसिक चिकित्सालय मे बिताये जहां उसने अपनी अनेकों प्रसिद्ध कृतियों का सृजन किया। इस दौर के चित्रों में एक प्रकार के भय और निराशा की छाप स्पष्ट है।

रेम्ब्रा (1606-1669) सत्रहवीं शताब्दी का महान् डच चित्रकार। 1620 में उसने चित्रकला की शिक्षा ली और 1624 में वह एम्स्तरदम चला गया जहाँ लैट्समैन नामक चित्रकार के सम्पर्क में रहकर अपना नया जीवन प्रारंभ किया। लेकिन उसके ऊपर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा टिन्टोरेटो का—जिससे उसने प्रकाश और छाया के एक दूसरे के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव की शिक्षा ली। प्रकाश और इसके स्रोत के चित्रांकन में वह भाव प्रवण, रहस्य वादी, प्रकृति विरोधी है। उसके प्रारंभिक चित्रों में बइबिल सम्बंधी विषयों की प्रधानता है। लेकिन उसने कुछ व्यक्ति-चित्र भी बनायें हैं और साथ ही अम्ल लेखन के माध्यम का प्रयोग भी उसने किया। उसके व्यक्ति-चित्र वास्तव में चरित्र, प्रकाश आदि के अध्ययन हैं। कभी-कभी वह अपने माडलो के सरों पर विचित्र किस्म के टोप भी रख दिया करता था।

1631 में वह एम्सतर्दम वापस आ गया और अगले दस वर्षों तक उसने अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग किया और उसे धन-यश दोनों प्राप्त हुए। 1634 में उसने एक रुपसी से विवाह किया। विवाह के पश्चात् कुछ वर्षों में उसने अपनी पत्नी को केन्द्र में रख कर अनेकों चित्रों की रचना की जो उसकी उल्ला-सपूर्ण भाव दशा के साक्षी हैं।

उसके बाइबिल सम्बंधी चित्रों से यह पता चलता है कि उसने अपने समकालीन योरापीय चित्रकला की सभी प्रवृत्तियों का अध्ययन किया था लेकिन इन सभी चित्रों में रेम्ब्रां के व्यक्तित्व की छाप है। बाइबिल के चरित्रों को वह उनकी पूर्ण मानवीयता में चित्रित करता है न कि महार्घ मानवों के रूप में। बाइबिल उसके लिए एक सहज तथ्य थी और उसको वह उसी रूप में चित्रित करना चाहता

था । 1640 के पश्चात् के वर्ष संघर्ष और संकट के दिन थे । दो वर्षों के अनंतर उसकी माँ और पत्नी का देहांत हो गया । उसकी लोकप्रियता भी घटने लगी थी क्योंकि नये कलाकारों का उदय हो रहा था । इस बीच आर्थिक स्थिति भी काफी खराब हो गई और 1656 में वह दीवालिया करार दिया गया। 1668 में उसके एक मात्र पुत्र का भी निधन हो गया। शीघ्र ही 1669 में वह भी चल बसा ।

रेफेल (1483-1520) पुनर्जागरण काल के इतालवी चित्रकारों में से एक महान् चित्रकार जो एक चित्रकार पिता का पुत्र था । उसके जीवन के प्रारंभिक वर्षों के विषय में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं । इस समय के बनाये हुए बहुत थोड़े से चित्र बचे हैं और इनसे उनकी प्रतिभा के भावी विकास का स्पष्ट संकेत मिलता है । लगभग 1504 में रेफेल ने फ्लोरेंस की यात्रा की जो उसके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ । यहाँ वह माइकेलएन्जिलो और लियोनार्दो द विंसी के प्रभाव में आया । इस दौरान उसके द्वारा बनाए गए मेडोना-चित्रों से यह पता चलता है कि वह चित्रकला की फ्लोरेंस-शैली पर काबू पाने की कोशिश कर रहा था । इस शैली की विशेषता थी चित्र की आकृतियों की एकसूत्रता । इस एक सूत्रता और अनावश्यक विस्तार को अस्वीकार करने का पाठ उसे लियोनार्दो से मिला लेकिन साथ ही उसने अपने को अंधानुकरण से भी बचानें का प्रयास भी किया । लेकिन इतना निश्चित है कि इस दौर के उसके चित्रों में माइकेलएंन्जिलो की मानव देहकी अभिव्यक्ति-संभावना का असर है ।

1508 में वह रोम पहुँचा जहाँ के शासक ने उसका सम्मान किया और जहाँ पर उसने नये पोपके राजभवन को सजाने का कार्य प्रारंभ किया । पोप ने सर्व प्रथम उसे समान आकार वाले कक्षों के भित्ति चित्र बनाने की आज्ञा दी । इन कक्षों को 'स्टैन्जे' कहा जाता था । इन भित्ति चित्रों का विषय सरल है लेकिन इनका प्रतिमा-चित्रांकन बहुत ही उलझा हुआ है। ऐसे समान आकार के चार कक्ष थे । पहला कक्ष बैठने के काम लाया जाता था। इसकी छत को चार गोलाकार मंडपों और चार आयतों से सजाया गया है जो धर्म विज्ञान, न्याय, दर्शन और काव्य तथा एडम और इव, सोलोमन का न्याय, नक्षत्र विद्या और अपोलो तथा मर्स्यास का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुख्य चार भित्ति-क्षेत्रों पर (Disputa) डिस्प्यूटा और स्कूल आफ एथेन्स लम्बी दीवालों पर चित्रित किए गए हैं और अपेक्षाकृत छोटी दीवालों पर पारनेसस और मूल सदगुण—चित्रित हैं । चूंकि इन सबका प्रधान विषय मानव ज्ञान को चित्रित करना है अतः मुख्य दीवारों पर धर्म निरपेक्ष ज्ञान और धार्मिक ज्ञान को चित्रित किया गया है । दोनों का प्रतीकात्मक चित्रण स्कूल आफ एथेन्स और

डिस्प्यूटा द्वारा किया गया है। स्कूल आफ एथन्स उसके भित्ति चित्रों म सर्वाधिक प्रसिद्ध है और सिस्टाइन मेडोना उसके मेडोना चित्रों में सर्व प्रसिद्ध। उसके धार्मिक चित्रों पर 16 वीं सदी की राजनीति का भी प्रभाव है। उसकी अंतिम प्रख्यात कृत्ति थी 'ट्रान्सफिगरेशन' जो वह अपने जीवन काल में पूरा नही कर पाया। उसके अंतिम चित्रों की विशेषता है उनमें संतुलन और आनुपातिकता के साथ ही रंगों की हिंस्रता और तनाव।

पोलाइयूलो—एन्टोनियो और पियरो नामक दो भाई जिनमें से पहले ने उत्कीर्णक और मूर्तिकार के रूप में ख्याति पाई और दूसरे ने चित्रकार के रूप मे। ऐन्टोनियो का जीवन काल 1430-1498 और पियरो का 1443-1496 है। एन्टोनियो कांस-प्रतिमाये बनाने में सिद्धहस्त था। चित्रकला की प्रेरणा उसे अपने छोटे भाई पियरो से मिली और उसका सर्व प्रसिद्ध चित्र है मारटायरडम आफ सेण्ट सेबास्टियन। एन्टोनियो की रुचि गतिशील मानव आकृतियो मे थी। ऐसा कहा जाता है कि शल्य क्रिया और मानव देह विज्ञान में रुचि लेने वाला वह पहला चित्रकार था।

कोरीजियो—(1494-1535) इटली के उन्नत पुनर्जागरण काल के अमर कलाकारों में से एक और बैरक शैली का जन्मदाता जो सोलहवीं सदी में लालित्य-चित्रकार के रूप में विख्यात था और जिसका नाम माइकेलएन्जिलो, रेफेल और टिटयन के साथ लिया जाता है। पुनर्जागरण के अन्य कलाकारों की भाँति वह भी लियो नार्दो से प्रभावित हुआ। माइकेलएन्जिलो और रेफेल के भित्ति चित्रो का भी उसके ऊपर प्रभाव है। सम्मोहक रंगों में चित्रित भक्ति चित्रों की एक पूरी श्रृंखला बना लेने के पश्चात् ही उसने अनेक धार्मिक चित्रों की रचना की थी जिनमें से प्रमुख है मैरेज आफ सेण्ट कैथरीन, नेटीविटी, एडोरेशन आफ क्राइस्ट और क्राइस्ट लीविंग हिज मदर। उसकी प्रौढ़ शैली उसके सेण्ट पाओलो के चर्च के चित्रांकन में प्रकट हुई। 1526-30 में चर्च के गुम्बज में कोरीजियो ने बैरक शैली का बीजारोपण किया जिसमें पूरे क्षेत्र को एक बृहद इकाई के रूप मे परिकल्पित किया गया और जिसमें चर्च की गुम्बदको स्वर्ग का चंदोवा माना गया। इसे देख कर टिटियन ने कहा था कि इस गुम्बद को उलट कर यदि इसे स्वर्ण से भर दिया जाय तो भी इसका मूल्य पूरा नही हो पायेगा। कोरीजियो की शेष कृतियो को तीन भागों में बांटा जा सकता है (i) विशाल वेदिका-चित्र (ii) व्यक्तिगत उपासना के चित्र (iii) और मिथकीय विषयों पर बनाये गये चित्र। कोरीजियो के रेखाचित्र अत्यन्त ओजस्वी और साहस पूर्ण हैं।

लियोनार्दो दा विन्सी (1452-1519) इतालवी चित्रकार, मूर्तिकार

और वैज्ञानिक जो विश्व के कला-प्रेमियों के लिये एक अनुश्रुति बना हुआ है। बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न इस व्यक्ति ने अनेकों क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

उसके जीवन के विषयमें जो भी सामग्री उपलब्ध है वह काफी विवादास्पद है। वह एक अविवाहित दम्पति का पुत्र था और कला की प्रारंभिक शिक्षा उसे फ्लोरेन्स के कलाकार बेरोशियो से प्राप्त हुई लेकिन फ्लोरेन्स के तत्कालीन शासक के यहाँ वह एक सैनिक इन्जीनियर के रूप में प्रस्तुत हुआ। अपने प्रार्थना पत्र में उसने अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी उल्लेख किया था कि वह पुल बनाने के साथ ही चित्रकला और स्थापत्य का भी कार्य करेगा और साथ ही तत्कालीन शासक के पिता की कांस्य प्रतिमा भी बनायेगा। मिलान में वह 30 वर्ष की अवस्था में पहुँचा और वहाँ 50 वर्ष की अवस्था तक रहा। उसके जीवन में इन वर्षों का विशेष महत्व है क्योंकि इन्हीं वर्षों मे उसने अपनी प्रतिभा की सही पहचान की। 1499 में जब फ्रेंच सैनिकों ने मिलान पर कब्जा कर लिया तो लियोनार्दो फिर फ्लोरेन्स लौट आया जहाँ मैकियाबेली से उसकी मित्रता हुई। यहाँ उसने दो काम करने चाहे—एक वैज्ञानिक और दूसरा कलात्मक। पहला था आरनो नदी के बहाव को बदल कर इसे नौपरिवहन के अनुकूल बनाना और दूसरा था पालाजो बेशियो नामक अन्य महल में युद्ध संबंधी एक चित्र बनाना। लेकिन दोनों में से एक भी कार्य न सम्पन्न कर पाने के कारण वह 1506 में फ्लोरेन्स लौट आया। यहाँ कुछ दिन रहने के पश्चात् वह मिलान वापस चला आया। लेकिन थोड़े दिनों के पश्चात् उसे पुनः मिलान छोड़ना पड़ा जहाँसे वह रोम चला गया। रोममें उस समय माइकेलएन्जिलो और रेफेल दोनो प्रसिद्धि के शिखर थे। अतः वहाँ भी वह अधिक दिन न ठहर सका। वहाँ से वह फ्रेंच शासकों के यहाँ चला गया और मृत्यु पर्यन्त वहीं रहा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है लियोनार्दो की प्रतिभा बहुमुखी थी। चित्रांकन, रेखांकन और मूर्तिकला में वह सिद्धहस्त था लेकिन उसका जीवन तत्कालीन घटनाओं से इतना प्रभावित हुआ था कि उसकी कृतियों में से अधिकांश लुप्त हो गई हैं। जो बची भी हैं, उनमें से कुछ को छोड़कर शेष की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं। चित्र कला के क्षेत्र में उसकी कुछ प्रसिद्ध कृतियाँ हैं—मेडोना एण्ड चाइल्ड, हेड आफ एवुमन, अडोरेशन आफ मेंजाई, वर्जिन आफ द राक्स, लास्ट सपर। उसका विश्वविख्यात चित्र है 'मोना लिसा' जो विश्व के कला-समीक्षकों के लिये आज भी एक चुनौती बना हुआ है। मूर्तिकार के रूप में लियोनार्दो की कोई भी रचना आज शेष नहीं है। लियोनार्दो के कला-

जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग हैं उसके रेखा चित्र। आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि उसके रेखा चित्रों के ही आधार पर उसकी महान प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। इन रेखांकनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लियोनार्दो की रुचियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विशाल था। उसने अनेकों माध्यमों को इस्तेमाल किया—कलम और स्याही, धातु-बिन्दु और लाल तथा काली खड़िया, और पैस्टल का उसे जन्मदाता माना जाता है। उसके विषयों में प्रकृति के प्राय सभी रुप आ जाते थे जैसे स्त्री, पुरुष, घोड़े, कुत्ते, वृक्ष, फूल, फल, लहराता हुआ जल, भयानक दैत्य, व्यंग्य चित्र, समारोहों की डिजाइन। लियोनार्दो सर्वोच्च सौन्दर्य और सर्वोच्च कुरुपता दोनों के प्रति समान रुप से आकर्षित था। उसके सर्वाधिक विशिष्ट रेखांकनों के विषय हैं सुन्दर यौवन और दन्तहीन वार्धक्य के पास-पास सजाये हुये पार्श्व चित्र।

चित्रकला के विषय में लियोनार्दो की कुछ कल्पनाये जैसे लपटों के प्रकाश में चित्रित उसकी आश्चर्य जनक रात्रि-आकृतियाँ तथा उसका यह निष्कर्ष की सफेद दीवाल पर पड़ने वाले सूर्य के प्रकाश का रंग काला अथवा भूरा न होकर नीला होता है आधुनिक चित्र कला में प्रतिष्ठित हो गई हैं। साथ ही चित्र में औचित्य-विचार का भी वही प्रतिपादक था। अर्थात एक राजा को चित्र मे राजा की ही भांति लगना चाहिये और आकृति को मूल व्यक्ति की संवेदना को भासित करनी चाहिये।

लियोनार्दो के विषय में प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक वाल्टर पेटर के ये शब्द अविस्मरणीय हैं—

"सौन्दर्य के प्रति कौतूहल और ललक—ये लियोनार्दो की प्रतिभा की दो बुनियादी शक्तियां है; प्रायः यह कौतुहल सौन्दर्य के प्रति ललक से टकराता है, लेकिन दोनों के संयोग से एक सूक्ष्म और कौतूहल पूर्ण लालित्य का जन्म होता है। वह प्रकृति का ही चितेरा नहीं था, मानव-व्यक्तित्व के प्रति भी वह आकर्षित हुआ था और इस प्रकार वह एक श्रेष्ठ व्यक्ति-चित्रकार है।

जल के पार्श्व में उभरती हुई यह (मोनालिसा) वह तस्वीर थी जिसे देखने के लिये हजारों वर्षों से मनुष्य के मन में साध बनी हुई थी। यह वह सिर है जहां विश्व के सारे उद्देश्य एक हो जाते हैं। यह ऐसा सौन्दर्य है जिसे कलाकार ने अपने भीतर से तराशा है, विचित्र विचारों, आश्चर्यजनक दिवा स्वप्नों और विचित्र भाव दशाओं के एक-एक कण को संजोया है। इसे श्वेत यूनानी देवियों अथवा अतीत की अपूर्व रुपसियों के पार्श्व मे बैठा दीजिये और फिर देखिये कि वे इसके सौन्दर्य को देख कर किस प्रकार परेशान होती हैं—यह सौन्दर्य जिसमें आत्मा

अपनी सारी रूणता के साथ समा गई है

जॉन कान्स्टेबल (1776–1837) 19वीं सदी का प्रख्यात अंग्रेज चित्रकार जिसने 1795 में लन्दन में रह कर जान टामस स्मिथ से उत्कीर्णन की कला भी सीखी। 1800 में वह रॉयल एकेडेमी के स्कूल में विधिवत् प्रविष्ट हुआ। 1802 में उसने अपना पहला चित्र प्रदर्शित किया। वह मुख्यतः प्राकृतिक दृश्यों का चित्रकार था और दोपहरी की तेज धूप में चमकते हुये दृश्यों के चित्रांकन मे वह अधिक रुचि लेता था। प्रारंभ में वह प्रचलित चित्र-कला शैली से प्रभावित था लेकिन शीघ्र ही उसने परिदृश्य-चित्रांकन में नये-नये प्रयोग करने आरम्भ कर दिये। समकालीन साहित्यिक आन्दोलन रोमान्टिसिज्म के प्रमुख गुण उसके चित्रों में भी मिलते हैं—संवेगात्मक तनाव, और प्रकृति के विभिन्न रुपो को अपनी मनो दशा के अनुकूल ग्रहण करने की इच्छा। 1824 में फ्रान्स मे उसके चित्रों की प्रदर्शनी ने उसको अत्यधिक ख्याति दी लेकिन रॉयाल एकेडेमी से वह 1829 में ही सम्मानित हो पाया।

कान्स्टेबुल का महत्व इस बात में निहित है कि परिदृश्य चित्रांकन को उसने एक अत्यधिक नवीन, कल्पन्ना सम्पन्न दृष्टि प्रदान की जिससे चित्र में चित्रकार की अपनी मनोदशायें दर्शक के मन को बांध लेती हैं। उपर से साधारण और घटिया दिखाने वाले पदार्थों पर एक नई दृष्टि से देखना और चित्रित करना उसी ने प्रारंभ किया।

दोनातेलो 1386--1466 इतालवी मूर्तिकार और पुनर्जागरण कला के जन्मदाताओं में से एक। यद्यपि उसके प्रारंभिक जीवन के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती फिर भी यह सत्य है कि उसने बहुत शीघ्र ही मूर्तिकला की एक ऐसी तकनीक आविष्कृत की जो कालक्रम में क्रान्तिकारी सिद्ध हुई। क्लासिम की अतीत की कला का वह प्रेमी था और अपने समकालीन उन मानवतावादी विद्वानों से उसका घनिष्ठ सम्पर्क था जिन्होने पुनर्जागरण काल के कला, दर्शन और साहित्य का सृजन किया। उसकी प्रारंभिक मूर्तियों जैसे 'डेविड और' सेण्ट जान' पर गोथिक शैली का प्रभाव है। लेकिन उसकी प्रतिभा का प्रस्फुटन हुआ 1411-16 के बीच जब उसने सेण्ट मार्क और सेण्ट जार्ज की प्रतिमाये बनाई। इन प्रतिमाओं में पहली बार मानवदेह को स्वतः क्रियाशील वृत्ति-गुणो से परिपूर्ण आकृति के रूप में चित्रित किया गया और मानव-व्यक्तित्व को अपनी शक्ति और मूल्य के प्रति एक आत्मविश्वास के साथ प्रस्तुत किया गया। उसकी अन्य कृतियों में भी यह गुण विद्यमान है। प्रस्तर प्रतिमाओं के अतिरिक्त उसने कांस्य प्रतिमाओं की भी रचना की। इनमें भी मानव देह की उसकी अवधारण पहले जैसी ही है। पुनर्जागरण काल में वह पहला कलाकार था जिसने निर्वस्त्र

मानव आकृतियां की रचना की मेण्ट एन्टानियो के क्रूसारोपण से सम्बन्धित उसकी कांस्य-प्रतिमायें अपनी अभिव्यक्ति-क्षमता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। अपने अन्तिम वर्षों में उसने लॉरेन्जो की चर्च के लिए दो वेदिकाओं की अभिकल्पना की थी। जीसस क्राइस्ट की भावप्रवणता को चित्रित करने वाली इन वेदिकाओं के पीछे अथाह आध्यात्मिक गहनता का आभास होता है।

बोतिसिली (1444-1510) पुनर्जागरण काल के महान कलाकारों में से एक जो एक चर्मकार का पुत्र था था जिसने अपने समय के प्राख्यात इटालवी कलाकार फ्रालिपो लिपी से कला की शिक्षा ग्रहण की। 1470 के आसपास उसके अनेको चित्रों की रचना हुई जो वेरोशियो और लिपी की शैलियों से प्रभावित होने के बावजूद बोतीसिली की अपनी विशिष्ट दृष्टि को व्यक्त करते हैं। इसी समय के लगभग उसने मेजाई की कथा से सम्बन्धित चित्रों की रचना की। इस विषय पर उसके अनेको चित्र उपलब्ध हैं। 'वीनस का जन्म' और 'बसंत की प्रतीककथा उसकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। इन दोनों चित्रों की अवधारणा उसने नवप्लेटोवादी प्रतीक कथाओं के रूप में की थी। दान्ते के विश्वविख्यात महाकाव्य 'डिवाइना कामेडिया' के लिये वोतीसेलीने 19 काष्ठचित्र भी बनाये थे और कुछ समय के पश्चात् इस महाकाव्य की कथा के आधार पर उसने 96 रेखांकन भी तैयार किये। 1474 में बोतोसिली ने पिसा का यात्रा की जहाँ उसने 'सेण्ट आगस्टाइन इन हिज्स्टडी' नामक भित्ति चित्रों की रचना की। सेण्ट आगस्टाइन के पुरुषोचित रूपों और महत्वाकांक्षी स्थान संरचना के समान ही उसने दूत-संदेश (क्राइस्ट के जन्म सम्बन्धी) के आधार पर भी भित्ति चित्र बनाये जो बोतीसिली की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृतियों में मानी जाती हैं। भित्ति चित्रों में अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह रोम गया जहाँ उसने सिस्टाइन चैपेल में अनेको भित्ति चित्र बनाये। फ्लोरेंन्स में रह कर बाइबिल की कथा से सम्बन्धित उसने चार चित्र बनाये जो अत्यधिक घनिष्ठ व्यक्तिगत संवेदनाओं के कारण विशिष्ट बन पड़े हैं। जीवन के अंतिम वर्षों में वह दो विषयों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था—क्राइस्ट की यंत्रणा और क्राइस्ट की मृत्यु पर करुण विलाप।

टर्नर, विलियम (1775-1851) स्वच्छंन्दता वादी अंग्रेज चित्र कार जिसने प्रकाश, रंग और वायुमण्डल को लेकर अनेकों प्रयोग किये। उसके प्रथम जल-रंग चित्र की प्रदर्शनी 1889 में हुई जब वह केवल 15 वर्ष का था। गर्मियों में वह प्रायः विषयों की तलाश में देहाती क्षेत्रों में घूमा करता था। उसकी प्रारंभिक कृतियां अनुकरण ही हैं। परिदृश्यों का उसका चित्रांकन काव्यात्मक और कल्पनाशील है। 1776 से ही उसके जलरंग चित्रों और तैलचित्रों की प्रदर्शनियाँ होने लगी थीं जो उसकी सफलता का सबूत है। 1802 में वह योरोप की यात्रा पर

निकला और इस दौरान उसने अनकों चित्रों की रचना की जो अनेक शैलियों में निर्मित हैं जो उस समय योरोप में प्रचलित थी। टर्नर की रुचि प्रत्येक शैली में थी और वह सब में महारत हासिल करना चाहता था। समुद्र को लेकर उसके बनाये गये अनेक चित्र ('शिपरेक' आदि) इसके प्रमाण हैं। ट्रेफलगार युद्ध पर बनाये गये उसके चित्र अत्यधिक लोक प्रिय हुये।

1807 में उसने अपने चित्रों को प्रकाशित करने का क्रम प्रारंभ किया जिनमें परिदृश्य चित्रांकन की लगभग सभी शैलियों—जैसे ऐतिहासिक, स्थापत्य संबंधी, पर्वत चित्रण, ग्रामीण परिवेश के चित्र तथा समुद्र चित्रण—का समावेश किया गया। यह क्रम 1807-1819 तक चलता रहा। 19 वीं सदी के दूसरे दशक मे टर्नर की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गई और किलों और ग्रामीण-निवासों को चित्रित करने के निमंत्रण उसे मिलने लगे। इस दौरान उसकी चित्रकला अत्यधिक चमकीली और वायुमण्डली होती जा रही थी। यहाँ कि तक यथार्थ स्थानो के चित्रों पर भी प्रकाशके प्रभाव को आधार बनाया गया था। 1820 के पश्चात् के वर्षों में उसने इगलेण्ड के विभिन्न स्थानों की यात्रा की। 1821 में उसने अनेकों जल रंग चित्र नीले कागज पर बनाये। जीवन के अंतिम 15 वर्षो मे उसने वेनिस, स्विटजर लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस की यात्रा की और लगभग 19000 रेखा-चित्र तैयार किये।

टर्नर की असाधारण प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा कारण रस्किन द्वारा उसकी प्रशंसा भी थी जिसने परिदृश्य चित्रांकन के क्षेत्र में टर्नरको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। आज उसके प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। प्रकाश और रंगों के अपने प्रयोग के कारण वह प्रभाववादियों का गुरु माना जाता है।

पोन्तोर्मो (1494-1557) इतालवी चित्रकार और फ्लोरेन्टाइन मेनेरिज्म के जन्मदाताओं में से एक जो एक चित्रकार पिता का पुत्र था। वेसारी के अनुसार लियो नार्दो दा विंसी, तथा पियरो दा कोसिमो से उसने कला की शिक्षा पाई। 1518 में उसने पहला वेदिका चित्र बनाया जो अपनी आक्रोश पूर्ण सवेगात्मकता के कारण पुनर्जागरणकालीन कला के संतुलन और सोम्यता से अलग लगता है। पोंतोर्मो मुख्यत: धार्मिक चित्रकार था जो 1521 में विख्यात मेदिकी परिवार द्वारा सजावट के कार्य के लिए आमंत्रित किया गया था। उसकी प्रौढ़ शैली का दर्शन उसके प्रख्यात चित्र 'डिपोजीशन' में होता है। उसके द्वारा बनाये गये भित्ति चित्रों से स्पष्ट है कि उसके उपर माइकेल-एंजिलो का गहरा प्रभाव पड़ा था।

मिलेट, ज्यां (1814-1875) फ्रेंच चित्रकार और अम्ल-लेखक जिसकी

कला-शिक्षा 19 वर्ष की आयु में प्रारंभ हुई। पेरिस में पहुंच कर वह उस समय के प्रसिद्ध चित्रकारों ला फाँतें और ग्रेसेल के सम्पर्क में आया जिनसे प्रेरित होकर उसने कई प्रसिद्ध चित्र बनाये। 1844 में निर्मित 'दमिल्कमेड' और 'राइडिंग लेसन' जैसे चित्र बनाये। वह माइकेलएंजिलो, पोसीं, राइबेरा, टिटिपन और रेम्ब्रां आदि की कृतियों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था।

किसानों के जीवन से संबंधित उसके चित्रों का प्रारंभ 1848 में 'दि विनोवर' (मडाई करने वाला) से प्रारंभ होता है। 1850 में उसके चित्रों दि सोवर (बुआई करने वाला) और दि बाइण्डर (बांधने वाला) में सामाजिक यथार्थ का प्रामणिक चित्रण हुआ था और उसे अनेकों विरोधों का सामना करना पडा जिसके जवाब में उसने कहा था "जीवन का मानवीय पक्ष ही मुझे सर्वाधिक प्रेरणा देता है"। चित्रों में वह अति सामान्य विषयों के माध्यम से उदात्त भावनाओं को व्यक्त करने के पक्ष में रहता था।

दालाक्रवा(1798-1863) फ्रेंच स्वच्छंदतावादी चित्रकारों में सबसे प्रसिद्ध चित्रकार जिसका 'पहला प्यार' संगीत था। कला की शिक्षा उसे 18 वीं सदी की नव क्लासिकी परंपर में मिली थी। दलाक्रवा का व्यक्तिगत और कलाकार जीवन ऐसे उलझे हुये तत्वों से बना था कि तत्कालीन फ्रांस के राजनैतिक और बौद्धिक वरिवेश में आने वाले त्वरित परिवर्तनों को ध्यानमें रखे बिना उनकी व्याख्या नहीं,की जा सकती। अपनी कला में उसने संतुलन और व्यवस्था की फ्रेंच परंपरा को बरकरार रखने का प्रयास किया है फिर भी उसका प्रथम चित्र जो 1822 में सैलों में प्रदर्शित हुआ ('नरक क्षेत्र में दांते और वर्जिल') 19वीं सदी की स्वच्छंदतावादी विचार धारा में रंगा हुआ है। उसके चित्रों में माइकेलएन्जिलो, रुबेंस, टिंटोरेटो और बेरानीज का प्रभाव है। विषयों के चुनाव में वह अपने समकालीन रोमांटिक कवियों के अधिक निकट है—दांते, शेक्सपीयर तथा मध्य कालीन विषयों के दृश्य तथा पोर्वत्य भव्यता। 1830 की क्रान्ति के समय उसने लिबर्टी गाइडिंगद पीपुल (जनता का मार्गदर्शन करती हुई स्वतंत्रता) का प्रसिद्ध चित्र बनाया। उसकी दिन प्रतिदिन चटखट होती हुई रंगयोजना का प्रभाव प्रभाववादी चित्रकारों पर पड़ा।

बेरनिनी, जियोवेनी लोरेंजो (1598-1680) 17वीं सदीका महानतम् मूर्तिकार और इस शताब्दी का सर्वाधिक चर्चित स्थापत्य शिल्पी होने के साथ ही वह एक नाटककार, रंगकर्मी, चित्रकार और दरबारी भी था। मूर्तिकला की बैरक शैली का जन्म उसी के हाथों हुआ था और उसने इसे इतना अधिक विकसित कर लिया थाकि इस पर विचार करते समय अन्य कलाकारोंके उल्लेख के बिना भी काम चल

सकता है उसका पिता पियट्रो स्वयं एक मूर्तिकार था और प्रारंभ में पिता पुत्र मिलकर मूर्तिया बनाया करते थे। उसने प्राचीन ग्रीक मूर्तिकला तथा इतलालवी पुनर्जागरण काल की कलाका विशेष कर माइकेलऐन्जिलो का गंभीर अध्ययन किया था जिसका प्रभाव उनके अनेक चित्रों पर पड़ा।

बेरनिनी की कला अवधारण पारंपरिक थी, उसने प्राचीन कला का अध्ययन प्रकृति की अनियमितताओं को ठीक करने के लिये किया था। यद्यपि बेरनिनी के खाके और मृत्तिका-मानक प्राचीन कला के बहुत निकट हैं लेकिन पूरा हो जाने पर उनके रुप विधान और अर्थक्षमता में पर्याप्त अंतर आ गया है। बेरनिनी की शैली दो पीढ़ियों तक योरोप में चलती रही और 18वी सदी की इतालवी मूर्तिकला पर तो जैसे वह छा गया था। उसकी स्थापत्य शैली तो इग्लैंड तक पहुँच गयी थी। 'सेण्ट सेबेस्टियन' की रचना उसने अपने संरक्षक पोप-अरबन-अष्टम के लिये की थी। लेकिन शीघ्र ही उसने माइकेलऐंजिलो के प्रभाव से मुक्त होकर अपनी एक नई शैली विकसित की जिसके लक्षण हैं त्वचा एवं बालों की बनावट और धरातल तथा रंगों का एक नवीन बोध-अरबन अष्टम के संपर्क (1923-44) का काल बेरनिनी की कलात्मक प्रतिभा के उन्नयन का काल था। उसी की प्रेरणा से वह चित्रकारिता और स्थापत्य कला की ओर उन्मुख हुआ। बेरनिनी ने अपने संरक्षक की अनेकों आवक्ष मूर्तिया भी बनाई लेकिन इस क्षेत्र में उसकी सर्वाधिक मोहक कृति हैं उसकीप्रेमिका की आवक्ष मूर्ति। अरबन के ही प्रभाव में उसने स्मारकों समाधियों एवं झरनों की भी रचना की। इन सभी कृतियों की मुख्य बात है परिचित रूपों को नये मिश्रणों के रूप में प्रस्तुत करना। उनमें अन्तर्निहित अर्थ उनके भीतर से विकसित होता है न कि उनके उपर लाद दिया गया है। इन नाटकीय रुपांतरोमें बेरिनिनी ने उस संश्लेष्णात्मक कल्पना को व्यक्त किया जो उसके सैद्धान्तिक विवेचना में भी मौजूद है।

बेरिनिनी की प्रौढ़ प्रतिभाकी महानतम् उपलब्धि है कोनेरो चेपेल (1645-52) जिसमें उसने भ्रांति जनक धार्मिक अनुभव के सिद्धान्तों को मूर्ति रुप दिया। उसका मूर्ति कला का आदर्श था धार्मिक अनुभव के उस चरम क्षण के एकांतिक दृश्य को दर्शकऔर मूर्तिके मध्य सक्रिय सम्प्रेषण के साथ प्रस्तुत करना। इसका परिणाम यह हुआ किवह अपनी रचनाओं में वातावरण पर अत्यधिक ध्यान देने लगा। और अंततः दर्शक को एक संयमित आध्यात्मिक अनुभव की ओर ले जाने की उसकी उत्कट इच्छा ने उसे उच्चतर वस्तुओं की तुलना में मूर्तिकारी को हेय समझने के लियेमजबूर कर दिया।

बरनिनी की महानतम स्थापत्य उपलब्धि है सेण्टपीटर के सामने के चौक को घेरे हुई स्तंभ श्रेणी। बेरनिनी ने चर्च से सम्बद्ध विशाल अण्डवक्र को एक समलम्बी अग्रप्रांगण द्वारा नियोजित किया है जिसे देखकर ऐसा आभास होता है जैसे कोई माँ अपने बच्चों के लिए ममतापूर्ण हाथ फैलाये हुए है।

जियारजियोनी (1477–1510) : वेनिसी पुनर्जागरण काल का इतालवी चित्रकार जो पुनर्जागरण काल की एक समस्या बना हुआ है। प्राप्त सूत्रों से पता चलता है कि बहुत शीघ्र ही वह प्रतिष्ठित हो गया था और उसकी कला 15वीं सदी से 16वी सदी की ओर एक महत्वपूर्ण मोड़ प्रस्तुत करती है। यह भी माना जाता है कि वह नई अथवा 'आधुनिक' चित्रकला शैली का जनक है जो रंग और प्रकाश के प्रभावों पर आधारित हैं। वेसारी के अनुसार उसने बेलिनी की चित्र-शाला में प्रवेश लिया था लेकिन उसकी प्रारंभिक कृतियों पर कारपेशियो, फ्रांसिया और लोरेन्जो का प्रभाव अधिक है। एक सूत्र के अनुसार वह लियोनार्दो, रेफेल और माइकेलएन्जिलो की श्रेणी का कलाकार माना जाता था। मार्केन्टोनियो मिचील ने जियारजियोनी के 12 चित्रों और एक रेखाचित्र का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश का पता नहीं है। उसकी तकनीक 'अतिव्याप्तिपूर्ण गति' का प्रतिलोम है। उसकी तूलिका चालन में असबद्ध रेखाओं और बिन्दुओं का बड़ा महत्व है जिसे बाद में बिन्दु चित्रण कहा गया। इसका प्रभाव इसमें निहित होता है कि यह पूरे धरातल को झंकृत बना देता है, और इस प्रकार दो पदार्थों के बीच का वातावरण, प्रकाश से गर्भित, कलात्मक रूपांतरण का विषय बन जाता है। प्रकृति के प्रति यह नई संवेदना जियारजियोनी की चित्रकला की मोहकता और महत्व का स्रोत है। इसे बहुदेव वादी की संज्ञा ठीक ही दी गई है। जियोरजियोनी ने चित्रकलाका कोई सम्प्रदाय अथवा स्कूल नहीं चलाया लेकिन बाद के चित्रकारों जैसे टिटियन, पियोम्बो बेलिनी और सम्पूर्ण वेनिसी परम्परा तथा इसकी उपधाराओं पर उसका प्रभाव अत्यन्त गहन एवं निर्णयात्मक सिद्ध हुआ।

जियोतो (1266–1337) : इतालवी चित्रकार जो लगभग ६ शताब्दियों से आधुनिक चित्रकला शैली के जनक के रूप में समाहत हो रहा है। अपने समय में उसकी ख्याति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि महाकवि दाते ने अपने महाकाव्य **डिवानिया कामेडिया** में उसका नामोल्लेख किया है। वेसारी ने भी जियोतो को ऐसे कलाकार के रूप में उल्लिखित किया जिसने तिमिर कालीन (मध्य कालीन) परंपरा को तोड़कर चित्रकला को आधुनिक तत्वों से सन्निविष्ट किया। और यह सत्य है कि वह क्लासिकी आदर्शों को पुनरु-

ज्जीवित करने के साथ ही असाधारण मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार था जिसने चित्रकला में एक नई मानवता को प्रतिष्ठित किया ।

उसकी कृतियों का केन्द्रीय विषय मनुष्य है जो त्याग और समर्पण के क्रिश्चियन नाटक में अपनी भूमिका अत्यन्त भावप्रवण और समर्पण के साथ निभाते हुए चित्रित किये गये है । तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो उसके पूर्ववर्तियो और तत्काल उत्तरवर्तियों ने मनुष्यों के रूप में कठपुतलियों को ही चित्रित किया था जिनकी आकृतियाँ बिजैन्तियम परम्परा की भव्य, याजकीय एवं निर्वैयक्तिक कला के कम्बलों में लिपटे हुए से लगते हैं । यह कला-परम्परा संत फ्रांसिस द्वारा इसाइयत के प्रति नयी दृष्टि के परिणामस्वरूप पूर्णरूप से बदल दी गई थी ।

उसकी कृतियों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ सन्देह उठाया गया है लेकिन इतना निश्चित है कि उसकी प्रथम कलात्मक कृति का दर्शन असीसी के चर्च के भित्तिचित्रों में प्राप्त होता है जहाँ उसने असीसी के संत फ्रान्सिस के जीवन के 28 दृश्य चित्रित किये थे । रोम में निवास के दौरान उसने तीन महत्त्व-पूर्ण चित्रों का सृजन किया । इसके पश्चात् उसने पडुआ में 'एरेना' नामक चर्चके भित्तिचित्र बनाये जिनका सबसे महत्वपूर्ण गुण है उनका वर्णन पक्ष । असीसी और पडुआ के भित्ति चित्रों का प्रधान अंतर यह है कि पडुआ के भित्ति चित्रों मे ब्योरों का बड़ा महत्व है जबकि असीसी-चित्रों की विशेषता है कि कभी-कभी ऐसे ब्योरों के प्रति भी मोह व्यक्त होता है जिनका संबंध कथा से बहुत अधिक घनिष्ठ नहीं है ।

फ्लोरेंस में भी उसने कई चर्चों के लिये भित्तिचित्रों की रचना की । 1330 में वह नेपिल्स के राजा राबर्ट द्वारा सम्मानित होकर राजपरिवार का सदस्य बनाया ।

कार्लो क्राइवेली (1430-35—1493-95) : 15वीं सदी की वेनिसी चित्रकला का एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर जो वेनिस में पैदा हुआ था लेकिन जेल-यातना के डर के कारण उसे अपना नगर छोड़कर जाना पड़ा । उसकी कृतियो मे कुछ है मेडोना एण्ड सेण्ट्स (1491) 'पायटा' और उसका सर्वश्रेष्ठ चित्र दि कोरोनेशन आफ वर्जिन (1493) । उसके चित्रोंकी विशेषता है—रूपात्मक पुष्टता, निश्चित रूपरेखा, दृढ़, ओजस्वी, शक्तिसंपन्न परन्तु साथ ही रंग और अलंकरण से जगमगाते हुए ।

ब्रूफेल (1525-1568) : 16वीं सदी का सशक्त और मौलिक फ्लेमिश चित्रकार जिसने परिदृश्य चित्रांकन की एक सर्वथा नयी और प्रभाव-

शाली शैली को जन्म दिया। उसके प्रारंभिक चित्रों में alpiul दृश्यों का उदात्त स्वरूप मुख्य है। 1552-53 में उसने रोम की यात्रा की और उस समय के आस-पास बनाये गये उसके चित्रों में रोमन पुनर्जागरण कला का प्रभाव प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। एण्टवर्प चित्रकार गिल्ड का वह 1551 में सदस्य बना लेकिन 1553 में वह ब्रूसेल्स पहुँचा जहाँ उसकी शैली में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इसके पूर्व के उसके चित्रों का प्रमुख गुण था। एक विस्तृत रंगमंच जिसे ऊपर से देखा जाता है और जिसपर सजीव आकृतियों का एक बृहद्समू स्थित है।

लेकिन ब्रेसेल्स पहुंचने के पश्चात् उसने परिदृश्य चित्रांकन की एक नई शैली इजाद की जिसका प्रमुख गुण है मध्यकालीन विषयों का प्रकृति की भावदशाओं के अत्यन्त ही सूक्ष्म संवेदनशील चित्रांकन के साथ मिश्रण। विषय के चुनाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ—धार्मिक, ग्रामीण परिवेश और दंतकथाओं का आकर्षण इस समय भी पूर्ववत ही रहा। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि ब्रूफेल एक फ्लेमिस किसान था जो अपने देशवासियों के गुणों को स्पेनी शोषकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा था। लेकिन वह एक सुरुचि सम्पन्न नगरवासी था और उसने अपनी कला में अपनी कल्पना और अन्य युगों की कलाओं की अपनी समझ का एक भव्य संयोजन प्रस्तुत किया है। और उसकी कल्पना ऐसी है जिसमें प्रकृति की उदात्तत और मानव-यातना के प्रति प्रकृति की तटस्थता की पृष्ठभूमि में मनुष्य के बौनेपन, उसकी निर्दयता और मूर्खता को उकेरने का प्रयास है। लेकिन इस प्रकार की निराशा के विलोम उसके चित्रों में एक प्रकार की स्वस्थचित्तता है, प्राकृतिक सौन्दर्य के सभी रूपों के प्रति वह संवेदनशील है और यही कारण है कि उसकी कला सुखानुभूति प्रदान करने के साथ ही गहन दार्शनिकता से ओत-प्रोत है।

●